TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_180889
UNIVERSAL
LIBRARY

मुनमुन

[मौलिक कहानियाँ]

श्रीसत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०
(श्रीभारतीय)

१९३५

सरस-साहित्य ग्रंथमाला—२

प्रथम संस्करण—१०२५ प्रतियाँ

मूल्य १)

(लेखक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित)

प्रकाशक—

सरस-साहित्य-सदन

प्रयाग

मुद्रक—

नारायण प्रसाद,

नारायण प्रेस, प्रयाग

प्रकाशक के दो शब्द

हिन्दी में सस्ती, सुरुचिपूर्ण, सरस-साहित्य की बड़ी कमी है। इसी कमी को दूर करने के लिए हमने अपने मित्रों की आज्ञानुसार 'सरस-साहित्य ग्रन्थमाला' के प्रकाशन का भार उठाया था। हमारा उद्देश्य है, कि इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी पाठकों के हाथों में हम सरस, उपयोगी तथा सुरुचिपूर्ण सामग्री से भरी सस्ती पुस्तकें दे सकें। हमारे प्रयत्नों का प्रथम फल यह था कि हमने श्रीभारतीय, एम० ए० की हास्य-रस की रचनाओं का संग्रह—**मिस ३५ का पतिनिर्वाचन** नाम से हिन्दी पाठकों के सन्मुख रखा था। इस पुस्तक ने हिन्दी हास्य-रस-साहित्य में अपना उचित स्थान प्राप्त किया। आलोचकों और साहित्य-पारखियों ने इस ग्रन्थ का खुलकर उचित स्वागत किया। हिन्दी पाठकों ने भी उक्त पुस्तक के प्रति अपनी रुचि-प्रदर्शन कर अपनी रसज्ञता का परिचय दिया। इसी से प्रोत्साहित होकर हम अब, हिन्दी पाठकों और साहित्य-सेवियों के सामने श्रीभारतीय जी की मौलिक कहानियों का संग्रह उपस्थित कर रहे हैं।

श्रीभारतीय जी का परिचय देना समय नष्ट करना होगा। हिन्दी-जगत उनकी रचना-शैली से यथेष्ट परिचित है। उनकी हास्य-रस की रचनाओं की भाँति ये कहानियाँ भी, हमें विश्वास है, हिन्दी पाठकों का यथेष्ट मनोरंजन करेंगी। यदि हिन्दी पाठकों ने अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया, तो हम शीघ्र ही उनकी सेवा में 'सरस-साहित्य ग्रन्थमाला' का तीसरा ग्रन्थ भी उपस्थित कर सकेंगे।

प्रयाग
नवम्बर, १९३५

सरस-साहित्य-सदन

ग्रंथकार की अन्य सरस रचनाएँ

स्वप्नवासवदत्ता ... [नाटक] इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ।
प्रेम की पराकाष्ठा ... [नाटक] साहित्य-भवन, लिमिटेड, प्रयाग ।
दर्पण ... ... [कहानियाँ] इण्डियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।
प्रायश्चित्त ... ... [प्रेम-पत्र] साहित्य-भवन, लिमिटेड, प्रयाग ।
मिस ३५ का पतिनिर्वाचन [हास्य-रस प्रधान रचनाएँ] सरस-साहित्य-सदन, प्रयाग

सरस-साहित्य-सदन—प्रयाग

की

पुस्तकें निम्नलिखित पुस्तक-विक्रेताओं के यहाँ मिलेंगी ।

सरस्वती-सदन, दारागंज—प्रयाग ।

साहित्य-भवन, मिलिटेड—प्रयाग ।

हिन्दी-मन्दिर—प्रयाग ।

किताबिस्तान—प्रयाग ।

हिन्दी-भवन—लाहौर ।

सरस्वती-प्रेस—काशी ।

विशाल-भारत-बुकडीपो—कलकत्ता ।

नोट—पुस्तक के लिए पुस्तक विक्रेता से माँगिए । हमारे पास भी मूल्य पेशगी भेजने पर डाक खर्च नहीं लिया जायगा ।

हम क्या लिखें ?

"पुस्तकों की भूमिका होती है। हमारी ये कहानियाँ अब पुस्तक रूप में उपस्थित हो रही हैं। इनकी भी भूमिका होनी चाहिए। हम क्या लिखें ?

भारतीय वातावरण में जन्म पाकर, रहकर, इस अनिश्चित जीवन के ३६ वर्षों में हमने जो कुछ देखा-सुना, सोचा-समझा है—वही हमारी इन कहानियों की भूमिका होगी। हमारी भूमिका के हेतु उसी वाता-वरण की खोज करनी होगी या उन कहानियों की आवृत्ति, जो उसमें प्रसूत हुई हैं—और फिर कहानियों के लिए भूमिका ही क्यों ? इसके हेतु तो कहानियों को ही पढ़ना अच्छा होगा। कहानियों की भूमिका कहानियों ही में हुआ करती है।"

—श्रीभारतीय, एम० ए०

विषय-सूची

					पृष्ठ
(१)	मुनमुन	...	...	...	१
(२)	राधा	...	...	...	१३
(३)	वह अंधी थी ?	...	...	...	३३
(४)	"रँग-गुलाबी-बादामी-रँग !"		...	...	४५
(५)	हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज		...	...	६०
(६)	मिस्टर शर्म्मा	...	...	...	७५
(७)	कवि	...	...	...	११०
(८)	मुन्शी जी	...	...	...	१२१
(९)	मदन	...	...	...	१३५
(१०)	बेकारी का भूत	...	...	...	१३९
(११)	पड़ोसिन	...	...	...	१४७

मुनमुन

[श्रीभारतीय, एम० ए०, की मौलिक कहानियाँ]

मुन
मुन

"मुनमुन ! मुनमुन, !" तुतली भाषा में पुकारता हुआ वह चार बरस का लड़का बकरी के काले कनकटे बच्चे के पीछे दौड़ रहा था। मुनमुन उमङ्ग में कूदता, उछलता, कभी लड़के की ओर देखता, पास आता, फिर छलाँगें मारकर चक्कर काटने लगता। लड़का उसे पुचकारकर, हाथ की मिठाई दिखाकर, ललचाकर अपने पास बुलाना चाहता—उसे पकड़ कर गले लगाने की उसकी बड़ी अभिलाषा हो रही थी। परन्तु वह नटखट मुनमुन लड़के के बहलावे में नहीं आना चाहता था। ज्यों-ज्यों वह मुण्डा लड़का अपनी हल्दी में रँगी धोती सँभालता हुआ उसके पीछे दौड़ता, त्यों-त्यों वह मुनमुन उसे और मैदान दिखाता था। इसी बीच लड़के के और साथी आ पहुँचे।

साथियों ने लड़के को घेर लिया। सभी उसे आदर और सद्भाव से देखने लगे, जैसे वही अकेला उन सबके बीच भाग्यवान हो। नंगे-धड़ंगे, धूल-धूसरित एक लड़के ने उसकी ओर ईर्ष्या भरी, ललचाई आँखों से देखकर कहा, "माधो! तुम्हें तो बड़ी अच्छी अच्छी चीज़ें मिलती हैं जी!," और वह अपने साथियों की ओर इसके समर्थन की आशा से देखने लगा। माधो के हृदय पर गर्व का प्रभाव अवश्य हो उठा। उसने अभिमान से, और मुँह बिचकाकर, सिर हिलाकर कहा, "हमारा मुण्डन नहीं हुआ है! यह देखो, यह पीली धोती, यह मिठाई और नहीं तो क्या! तुम्हारा कहीं मुण्डन हुआ है? तुम्हारा होगा तो तुम्हें भी मिलेगा।" प्रश्नकर्त्ता अपने भाग्य पर अवश्य दुखी हो उठा होगा, इसीसे वह चुप हो गया। पर उसका एक साथी अनुभवी था। उसने कहा, "क्यों नहीं और जब 'कुच' से कान छेदा गया होगा, तब न मालूम पड़ा होगा मिठाई और धोती का मतलब," उसने उस नव-मुण्डित लड़के के कान की बाली की ओर इशारा करके कहा, कुछ व्यङ्ग से, कुछ अनुभवी के अभिमान से।

सब लड़के निकट पहुँचकर माधो के कानों की परीक्षा करने लगे। कानों की लुरकी में पीतल की छोटी बाली छेदकर पहनाई गई थी। छेदन-क्रिया अभी दो ही दिन पूर्व हुई थी, इसीसे कान सूजे हुए थे और बालियों की जड़ में रुधिर के सूखे हुए बिन्दु वर्तमान थे। परीक्षा करते-करते एक चिलबिले बालक ने उसे छू दिया। माधो 'सी' करके हट गया। उसकी आँखें सजल हो गईं। लड़का अपनी धृष्टता पर लज्जित और भयभीत हो गया। उसके साथी भी आशङ्कित हो चुप हो गये। सौभाग्यशाली, सम्पन्न घर के लड़के की पीड़ा का अनुभव उसके गरीब साथी अवश्य करते हैं। माधो चुप-चाप अपने कानों

की बात सोच रहा था और उसकी पीड़ा की मात्रा से मुनमुन के कष्ट की मात्रा का अन्दाज़ लगा रहा था।

वह सोचता था, "मेरे कान तो ज़रा छेदे ही गये हैं; पर उस बेचारे का तो एक कान थोड़ा-सा काट ही लिया गया।" कान काटने पर कान छेदने से दर्द ज़रूर कुछ अधिक होता होगा—यह उसके बाल-मस्तिष्क की तर्क-शक्ति ने निश्चय किया। वह मुनमुन के प्रति स्नेह और सहानुभूति के भाव से भर गया। उसे इच्छा हुई मुनमुन को पकड़ कर प्यार करने और उसके कानों की परीक्षा करने की।

मुनमुन अपनी मा के थन में मुँह मारता हुआ, अपनी छोटी दुम हिलाता हुआ, तन्मयता से दूध पी रहा था। उसकी मा जुगाली करती हुई कभी-कभी रुककर प्रेम और सन्तोष-भरी दृष्टि से अपने बच्चे को देख लेती, सूँघ लेती थी। माधो ने सोचा इस समय मुनमुन को पकड़ने का अच्छा अवसर है। उसने अपनी इच्छा अपने साथियों से प्रकट की। बाल-सेना तुरन्त इस काम के लिए तैयार हो गई। घेरा डाल दिया गया, मुनमुन गिरफ़्तार होगया —फ़रार असामी पकड़ लिया गया। किसी ने अगली टाँगें पकड़ी, किसी ने पिछली। माधो ने उसके गले में अपनी छोटी बाँहें डाल दीं। सब उसे लेकर आँगन में सूखने के लिए डाले गये पुआल के 'पैर' पर पहुँचे, और बैठकर सब मुनमुन का आदर सत्कार करने लगे। मुनमुन की मा बच्चों को सचेत करने के लिए कभी-कभी उनकी ओर देखकर "में—में" कर देती, मानो वह कहना चाहती हो, "बच्चो देखो मुनमुन का कान न दुखाना।"

मुनमुन अपनी आव-भगत और लाड़-प्यार से जैसे ऊब रहा था। मनुष्यों के प्यार की निस्सारता जैसे वह अज-पुत्र ख़ूब समझता हो। वह

अच्छी तरह कसकर पकड़े जाने पर भी अवसर पाकर कूद-फाँद मचाकर भागने का प्रयत्न करता—विवशता में "में—में" कर मा को पुकारता, लाचार हो आँखें मूँदकर चुप हो जाता। लड़के उसे कुछ खिलाने की नीयत से उसका मुँह खोलना चाहते—वह दाँत बैठा लेता। वे उसे पुचकारते—वह अनसुनी कर देता। वे पीठ पर हाथ फेरते—वह हाथ नहीं रखने देता। पता नहीं, उस छोटे बकरे के अल्प-जीवन की किस घटना ने उसे मनुष्यों से शंकित कर दिया था।

संसार में अज्ञान अथवा अभ्यास ही भय की गुरुता की उपेक्षा वा अपेक्षा का कारण होता है। मुनमुन ने धीरे-धीरे अभ्यास से आशंका के महत्त्व को अपेक्षणीय वस्तु समझना सीखा। अब वह अभ्यस्त हो गया था, बच्चों के उपद्रवों का सामना करने में। धीरे-धीरे उसके जीवन में नित्य ये उपद्रव इतने बार घटने लगे कि वह उनके प्रति एक प्रकार की ममता का अनुभव करने लगा। उसे भी अच्छा लगना; उन बच्चों का उसे दौड़ाना; दौड़ाकर पकड़ना; पकड़कर उसकी माँसल करना; उसकी पीठ पर चढ़ना; उसके कान पकड़कर उसे खेत की ओर ले जाना, मुँह खोलकर बल-पूर्वक कुछ खाने की चीज़ें ठूँस देना। बच्चों के साथ इस प्रकार उसके कई वर्ष बीत गये, अब वह उन्हें एक-एक कर पहचानने भी लगा था। उसके अज-मस्तिष्क में बच्चों के व्यक्तित्व की कल्पना निर्गुण रूप में न रहकर सगुण रूप में रहने लगी। इसका प्रमाण उसका आचरण था। वह उस बाल-समुदाय में से माधो को तुरन्त पहचान लेता, उसके पास बिना बुलाये ही, उपेक्षा करने पर भी, बार बार हटाये जाने पर भी, जा पहुँचता था। उसके अन्य साथियों में से वह उनके गुण और अच्छे-बुरे आचरणों के अनुसार, उसी मात्रा में उनसे स्नेह

वा निर्लिप्सा प्रदर्शन करता। इसीसे हम कहते हैं कि वह बकरी का बच्चा भी मनुष्यों की परख कर सकता था।

माधो और मुनमुन की मैत्री अब कुछ-कुछ आध्यात्मिक स्नेह की सीमा तक पहुँच रही थी; इसे कहते हमें संकोच नहीं होता। बकरे अध्यात्म या उसके किसी रूप का साक्षात करने के अधिकारी हैं या नहीं—यह प्रश्न ही दूसरा है। परन्तु हमारे देखने में वह मुनमुन अपने साथी माधव के हृदय के भावों को समझने में समर्थ होता था: समझने की चेष्टा करता था; और उसके प्रति सहानुभूति रखने लगा था। लड़का जब माता पिता की डाँट खाकर, अपनी किताबें ले, एक कोने में पहुँच, दुखी होकर, उन्हें उलटकर उनकी आवृत्ति करने बैठता, तो उस समय मुनमुन उसके पास पहुँच, उसकी पीठ से अपनी पीठ रगड़, उसे मनाता और अवसर पाकर उसकी पुस्तक हड़प करने की चेष्टा करता! माधो के छीनने पर, वह इस प्रकार भाव-भरी आँखों से उसकी ओर देखता, मानो कह रहा हो, "माधो! इन्हें मुझे खा जाने दो, ये मेरे ही योग्य हैं। इन सफेद, नीरस पत्तों पर रँगे हुए चिन्हों में तुम्हारे लिए देखने की कोई वस्तु नहीं है। इनका उचित स्थान मेरा उदर ही है। चलो हम दोनों, कहीं दूर—इन बखेड़ों से दूर किसी ऐसे स्थान में चलें, जहाँ केवल हम हों, तुम हो। तुम मेरी पीठ पर चढ़कर मुझे दौड़ाना, मैं तुम्हें प्रसन्न करने के हेतु छलाँगें भरूँगा। तुम मुझे हरी-हरी घास खिलाना, मैं तुम्हारी गोद में मुँह डालकर आँखें मूँद लूँगा और तुम मेरी पीठ पर सिर टेक कर सुख से विश्राम करना।" मुनमुन की बातें हम समझें या न समझें (हम समझदार ठहरे) पर माधो के लिए उसकी मूक-वाणी हृदय की भाषा थी।

वह माता-पिता के दण्ड को भूलकर मुनमुन के साथ घर से निकल जाता। फिर दिन भर वह बाग-बाग, खेत-खेत, उसे लिये हुए चक्कर काटता। मुनमुन तो हरी-हरी घास देख खाने से नहीं चूकता; पर माधो का जैसे मुनमुन को भर पेट खिलाने ही में पेट भर जाता था। उसकी भूख-प्यास उस काले कनकटे मुनमुन के रहते उसे सताने का साहस न कर पाती थी।

मुनमुन की आयु अब महीनों की माप से बढ़कर वर्षों में आँकी जाने लगी। माधो सात साल का हुआ। मुनमुन छत्तीस मास ही का था पर वह माधो से अधिक बलिष्ठ, चतुर और फुर्तीला था। कभी-कभी जब दोनों में रस्सा-कशी होती तो मुनमुन माधो को घसीट ले जाता। पर यह सब केवल विनोद या खींचा-तानी के लिए ही होता था। यों कभी माधो को मुनमुन ने दिक़ नहीं किया। वह उसके पीछे फिरता; वह उसके पीछे लगा रहता। दोनों ऐसे हिले-मिले थे, मानो पहले के परिचित हों। मुनमुन को देखकर जब माधो के साथी (लड़के) उसकी प्रशंसा करते, "अजी, इसके सींग कैसे सुन्दर हैं! ज़रा-सा तेल लगा दिया करो माधो! इसके बाल कैसे चमकते हैं जी! हाथ फेरने में बड़ा अच्छा लगता है। अजी खूब तैयार है माधो! तुम्हारा मुनमुन।—" और वे माधो की ओर, अपनी सौन्दर्य-प्रियता की अनुभूति से प्रेरित होकर, इस आशा से देखते, जैसे माधो यदि उन्हें ऐसा कहने और अपने मुनमुन को प्यार करने से रोकेगा नहीं तो वे अपने को धन्य समझेंगे। माधो अपने मुनमुन की प्रशंसा सुनता तो उसके हृदय मे मुनमुन के प्रति स्नेह की आग प्रबल हो उठती। उसके जी में एक अज्ञात गुदगुदी होती। वह लपककर मुनमुन को गले लगाकर चूमने और प्यार करने लगता।

ऐसे अवसर पर उसके बाल-साथी मुनमुन को सुहलाने की अपनी साध पूरी करने से नहीं चूकते। नैसर्गिक सौन्दर्य-प्रियता और निस्स्वार्थ-प्रेम के ये भाव बच्चों को अपने को भूल जाने में सहायक होते। वे तन्मय होकर माधो के मुनमुन की सेवा-सुश्रूषा में लग जाते। उनका मुनमुन के प्रति, स्नेह और सहानुभूति भक्तों की भक्ति से कम न थी।

मुनमुन पर सभी छोटे-बड़े की आँखें लगी थीं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार सब उसे अपनी आँखों से देखते; परन्तु मुनमुन ने जैसे कभी इसकी परवाह ही नहीं की। वह मस्त रहता अपने चरने-फिरने और कुलेल करने में। उसे किसी की दृष्टि और कुदृष्टि की आशंका जैसे थी ही नहीं। माधो के रहते उसने कभी इस विषय पर सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझी।

मुनमुन के जन्म के पश्चात् उसकी माता (बकरी) ने कम-से-कम एक दर्जन बच्चे दिये होंगे। उसकी माता की कई पीढ़ियों ने इसी प्रकार बच्चे और दूध देकर अनेक वर्षों से स्वामी के कुल की सेवा में अपने कुल की मर्यादा बनाये रखी थी। मुनमुन की मा अपने उदर के अनेक शिशुओं में केवल मुनमुन ही को देखकर मानो उसका साक्षात् अनुभव कर सकी थी, कि उसके बच्चे भी इतने बड़े हो सकते थे। नहीं तो उसने यही समझा था, कि जीवन में उसका धर्म केवल बच्चे देना, दूध देना—और इसी में सफल-मनोरथ होने के निमित्त खाना, पीना और निश्चिन्त जुगाली करना है।

मुनमुन को अब माता से उतना सरोकार न रहता और इसीसे कदाचित् उसके प्रति उतना स्नेह नहीं दिखाई पड़ता, जितना कि जन्म के बाद कुछ महीनों तक था। परन्तु उस बकरी के हृदय में जैसे अब भी मुनमुन के प्रति कोई भाव छिपा था। वह उसे माधो के साथ खेलते या

धूप में चारपाई पर लेटे देख, जैसे संतोष की आँखों से दोनों को निहार कर आशीर्वाद देती थी। मुनमुन कभी-कभी उसके पास पहुँचकर उसकी नाँद से कुछ भूसी-चोकर खा लेता। वह छीन-झपटकर खाने में अपने धर्म की मर्यादा समझता। और उसकी मा उसकी सीनाज़ोरी पर उदासीनता प्रकट करती हुई संतोष से जुगाली करना ही अपना कर्तव्य समझती थी।

मुनमुन की खातिरन् कभी-कभी माधो भी उसकी मा की देख-भाल किया करता। उसकी इच्छा होती कि फिर मुनमुन अपने बचपन की भाँति अपनी मा का दूध पीता। कभी-कभी वह उसे पकड़कर, उसका मुँह उसके थन तक लगा देता; पर मुनमुन उसे अपने छोटे भाइयों का अधिकार समझ उससे मुँह फेर लेता था। माधो का मानुषी हृदय उस गुप्त भाव का कदाचित् अनुमान नहीं कर पाता था— संभव है, कभी समझ में आवे। परन्तु उस समय इसे वह मुनमुन की धृष्टता और अपने स्वामी की इच्छा की अवहेलना समझता था, और इसीके आधार पर वह अपनी न्याय-वृत्ति के अनुसार मुनमुन को दण्ड देता। उसका दण्ड मुनमुन प्रसन्नता से स्वीकार करता। और दण्ड ही क्या होता—छोटे-छोटे हाथों के दो एक थप्पड़ या पीठ पर दो एक घूँसे। मुनमुन इन दण्ड-प्रहारों पर केवल अपना सहर्ष 'स्वीकार' प्रदर्शन करता और उसके पश्चात् मानो उसके प्रायश्चित्त में अपना शरीर हिलाकर वह गर्द झाड़ देता या सिर हिला कर अपने सींग नीचे कर देता। फिर दण्डित और दण्ड-विधायक दोनों मित्र की भाँति किसी ओर विचरण करने चल देते।

इस प्रकार कुछ दिन और बीते। माधो अब आठ बरस का हो गया। उसका मुनमुन चार साल का पट्ठा हुआ। दोनों देखने में सुन्दर लगते। माधो को देखकर उसका पिता प्रसन्न होता; मा अपने को धन्य

समझती थी। दोनों के मन में आशा का दीपक और भी प्रकाशमान होता हुआ जान पड़ता। मुनमुन की बूढ़ी मा अब और भी बूढ़ी हो चली थी। अब वह दूध न देती; उसके बच्चे न होते। यदि बकरी की मा को भी कोई अधिकार अपने बच्चों पर है तो उसी अधिकार से वह भी अपने मुनमुन को देखती, उसे देखकर सुखी होती थी। वह कुछ सोचती थी या नहीं। पर उसकी मुद्रा से यह भाव प्रकट हो सकता था, कि वह अपने बुढ़ापे में अपनी आँखों के सामने अपनी एक सन्तान को देखकर सुखी थी; और यदि पशु को भी परमात्मा का स्मरण करने का अधिकार है, तो वह निश्चय उस समय परमात्मा का स्मरण करती थी, जब उसे और लोग पुआल पर बैठी, आँखें मूँदे जुगाली करते हुए देखते थे। उसके परमात्मा का क्या रूप था, हम नहीं कह सकते—परन्तु यह निश्चय है कि उस पशु की कल्पना में परमात्मा का आकार, मनुष्य-सा कदापि न होगा! क्यों? इसका उत्तर वह बकरी या उसकी सन्तान दे सकेगी!

माधो मुनमुन को गाड़ी में जोतने का स्वप्न देखने लगा। वह सोचता था, "यदि एक गाड़ी हो जाय तो मैं भी मुनमुन को जोतकर सैर करने निकलूँ।" उस समय उसके अन्य साथी उसकी ओर किन आँखों से देखेंगे—इसकी कल्पना वह बालक कर लेता था और उसी कल्पना के परिणाम-स्वरूप अपने हृदय में आई हुई प्रसन्नता से विह्वल होकर, वह पिता से गाड़ी बनवा देने का आग्रह करता—नित्य अपने प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत होते देखने की इच्छा करता। पिता 'नाहीं' नहीं करता; पर मुनमुन को वह ऐसे अवसर पर ऐसी आँखों से देखता, जैसे वह सोचता हो कि "यही इस झगड़े का घर है।"

मुनमुन ने मनुष्यों की भाषा सीखने या समझने का प्रयत्न नहीं किया।

यद्यपि वह इन्हीं के बीच रहता आया था। परन्तु वह उनकी छिपी हुई हृदय की भावनाएँ जैसे भाँपने के योग्य हो गया था। इधर कुछ दिनों से उसे ऐसा जान पड़ा, मानो उसके प्रति लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट हो रहा हो। उसे देखकर लोग आपस में कुछ कहते-सुनते थे—कभी-कभी उसे उठाकर उसके बोझ का जैसे अन्दाज़ भी लोग लगा लेते थे। मालिक के घर में भी कुछ ऐसी तैयारियाँ या नित्य के साधारण वातावरण में परिवर्तन होते दिखाई देने लगे, जिसे देख मुनमुन को अपने बचपन के किसी कटु अनुभव की स्मृति कष्ट देने लगती। स्मृति बहुत धुँधली और मन्द हो चुकी थी। उसकी पीड़ा की मात्रा यद्यपि अधिक न थी, पर उसके कारण उसके हृदय में एक ऐसी आशंका का उदय होते दीख पड़ा, जिसे मुनमुन का मस्तिष्क सुलझा न सका। वह इसी हेतु कुछ चौंका हुआ, कुछ आशंकित सा रहने लगा। माधो यह बात न समझ सका। वह कैसे समझता; कान तो एक ही बार छेदा जाता था, फिर क्या डर था। माधो ने अपने 'मुण्डन' में मुनमुन के सिर में सिन्दूर लगते, उसके गले में माला पड़ते देखा था। उसे प्रसन्नता हो रही थी कि उसके 'टूण्डन' पर फिर उसके मुनमुन का शृङ्गार होगा—उसकी पूजा होगी। वह इस पर प्रसन्न था कि उसका मुनमुन इस बार बड़ा और सुन्दर-सा है। अब की बार वह स्वयं भी उसका शृङ्गार करेगा और उसे सजाकर वह उसको अपने साथियों को गर्व से दिखलायेगा।

❀ ❀ ❀

कैसे क्या हुआ—हमने उस बलि-विधान को अपनी आँखों देखा नहीं। और देखकर भी हम देखने में समर्थ न होते; पर दूसरे दिन प्रातःकाल हमने माधो को मुनमुन की खोज में पागल की भाँति इधर-उधर घर के कोने

कोने में झाँकते देखा। द्वार पर नाम का शीतल छाया में भैरवी बज रही थी, घर में स्त्रियाँ मङ्गल-गान कर रही थीं। बाहर बिरादरी के भोज की तैयारी में नौकर-चाकर व्यस्त थे। जानकार चतुर रसोइये अपनी कार्य-कुशलता की डींग हाँक-हाँककर अच्छे-अच्छे व्यंजन बनाने का दावा कर रहे थे। छप्पर से छाये हुए, टट्टियों से घिरे चौपाल के एक कोने में 'मुन्शी जी' चिलम फूँकते हुए चूल्हे पर चढ़े 'देग' की देख-रेख में लगे थे। इधर कम लोग आते थे। माधो भी उधर आकर अपने मुनमुन को खोज नहीं पा सकता था। वह क्या समझता कि उसका मुनमुन इस समय देवी के चरणों में गति पाकर, अपने शरीर को इस महोत्सव के अवसर पर आये हुए अतिथियों के सन्मुख 'प्रसाद' रूप में अर्पण करने के निमित्त 'देग' में छिपा है !

लोग अपनी-अपनी धुन में मस्त थे। माधो अपने मुनमुन की खोज में परीशान था। वह किससे पूछता ? मुनमुन का पता उसे कौन बतलाता ? क्या उसके घर वाले या उस समय वहाँ उपस्थित लोग उसे बतलाते ? यदि बतलाते, तो क्या बतलाते ? बतलाकर क्या समझाते ? माधो विक्षिप्त की भाँति भटकता हुआ बकरी के पास चला। मुनमुन की अनुपस्थिति में उसे ऐसा जान पड़ा, मानो उसकी मा ही उसे अपने बच्चे का पता बतला सकती थी। वह बाड़े में बँधे पशुओं के बीच से बचकर, कोने में बँधी बकरी के पास पहुँचा। बकरी निश्चित बैठी 'पागुर' कर रही थी। उसके गले में बाँहें डाल, उसकी रूखी भूरी पीठ पर सिर छिपाकर, माधो सिसक-सिसककर रोने लगा। उसकी अन्तर्वेदना की करुण पुकार किसी ने न सुन पाई। यदि कोई सुन सका होगा, तो वही बकरी या मनुष्यों का वह परमात्मा, जिसे वे सर्वत्र वर्त-

मान समझते हैं !

रोते-रोते माधो की हिचकियाँ बँध रही थीं। आँसुओं के कारण भीगी पीठ की आर्द्रता का अनुभव कर, वह बकरी कभी-कभी प्रश्नात्मक नेत्रों से माधो की ओर देखती। माधो उसकी आँखों से आँखें मिलते ही दुख से विह्वल हो उठता। वह मुनमुन के विछोह से विकल हो तड़प-तड़प कर रोने लगता। उसके घर का वातावरण उत्सव के चहल-पहल और गाने-बजाने से मुखरित हो रहा था। वायु-मण्डल धूम और सुगन्ध से लदा था। एक ओर हवन के हव्य और आज्य की धूम-राशि—दूसरी ओर भोज के व्यञ्जनों की सोंधी सुगन्ध ! इन सब से अप्रभावित वह बकरी बैठी जुगाली कर रही थी और माधो मुनमुन के लिए भूमि पर पड़ा तड़प रहा था। एक ने मानों मानव-समाज की हृदय-हीनता का आजीवन अनुभव कर दार्शनिक की उदासीनता प्राप्त की थी , और दूसरा—दूसरा मानो मानव जाति की सभ्यता की वेदी के सोपन की ओर घसीटे जाने पर बकरी के बच्चे की भाँति छटपटा रहा था !

रा
धा

उसका नाम राधा था। स्वकीया और परकीया वाले झगड़े की राधा वह राधा न थी, और न थी वह वृषभानु की लाड़ली, बरसाने की रहनेवाली, यमुना-तट के करील-कुंजों में विहरने वाली राधा। पर उसका नाम राधा था; वह भी अहीर की लड़की थी।

राधा रहती थी काशी की एक अँधेरी गली में; गली के छोर पर; एक टूटे-फूटे मकान में, जिसके सामने नालियों में सदा गन्दा पानी भरा रहता था, कूड़े का पहाड़ सदा हिमाचल-सा अचल दीखता था। उसकी गली में म्युनिसिपैल्टी के हेल्थ आफ़िसर की मोटर गाड़ी न पहुँच पाती थी, अगर पहुँचता था तो केवल टैक्स का चपरासी! टैक्स का नोटिस लेकर—सो भी साल में केवल दो बार; बस दो बार!

राधा का ब्याह बचपन में हुआ था। उसकी स्मृति राधा को नहीं थी। उसकी मा मर चुकी थी। केवल बूढ़ा बाप बचा था, जिसकी कमर विपद् से झुकी थी, वयस से नहीं। वह दिन भर घर से बाहर रहता—मण्डी में पल्लेदारी करता। राधा घर पर अकेली रहती—उसकी न कोई सखी थी, न सहेली। वह घर पर अकेली रहती, घर का काम-काज करती, अपनी गौ की सेवा करती, उसे प्यार करती और प्यार करते-करते उसकी पीठ पर सिर रखकर झपकियाँ लेती। गौ उसका शरीर चाटती अपनी खुरखुरी ज़ुबान से—वात्सल्य-रस से प्रेरित होकर। यह नित्य का धन्धा था।

राधा का कुटुम्ब अच्छे दिन देख चुका था। कभी उसका पिता अपनी जाति का मुखिया था। उसके पास गायें थीं, भैंसें थीं, निज का अच्छा मकान था, मान था, धाक थी। पर एक-एक कर सब काल-कवलित हुए। कैसे? जैसे संसार की समस्त अस्थायी सम्पत्ति होती रहती है। अब उसके पास क्या था? वही जीर्ण-शीर्ण झोपड़ी, वही अष्टवर्षीया मातृहीना राधा, वह श्यामा गौ, अच्छे दिनों की दुखद कहानी और उन सबकी कटु स्मृति—इन्हीं को लेकर राधा का वह विपद् का मारा बाप अपना बुढ़ापा बिता रहा था। बूढ़े की लकड़ी थी तो वह राधा; निराशा में आशा थी तो वह श्यामा गौ। राधा घर की देखभाल करती और पिता को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती। गौ गर्भिणी थी। उससे बूढ़े की आय में वृद्धि की आशा थी।

राधा अभी आठ वर्ष की ही थी, स्वावलंब ने उसे प्रौढ़ा की भाँति आचरण करना सिखा दिया था। उसमें लड़कपन की झलक न आने पाई थी और आये भी कैसे—उसने लड़कपन देखा ही कहाँ था! वह जन्मी

तब उसका पिता भिखारी हो चुका था; वह पैरों खड़ी होने लगी; तब उसकी मा उस पर घर का भार छोड़कर स्वर्ग सिधार गई। उसने अपने को सँभाला, अपने पिता को सँभाला। वह 'गिहथिन' हो गई थी—अपनी गृहस्थी में निपुण—अपने काम-काज में दक्ष। उसका संसार बहुत छोटा था, पर उस छोटी राधा के लिए वह काफ़ी बड़ा था। राधा पिता से पहले उठती, अपनी झोपड़ी साफ़ करती, बासन मॉंजती, भोजन बनाती, गौ की सानी-पानी करती, पीसती, कूटती, उठाती, धरती। इन सबसे छुट्टी मिलती तब थकी-मॉंदी राधा अपनी गौ को प्यार करने लगती। श्यामा उसकी संगिनी थी। बचपन से दोनों हिली थीं। राधा उसकी पीठ पर प्रेम से हाथ फेरती, वह जुगाली छोड़कर उसका हाथ चाटती। वह उसे प्रेम से पुचकारती, वह अपनी मूक पर भावमय ऑंखों से उसका उत्तर देती। दोनों के प्रेम का आधार क्या था, यह प्रेम के पारखी ही बता सकते हैं।

गौ ने बच्चा जना। पिता-पुत्री फूले न समाये। राधा में वात्सल्य-रस उमड़ आया। मानो उसी को बच्चा हुआ था। उसका पिता प्रसन्न था, मानो डूबते को सहारा मिल गया था। उसकी आमदनी ही क्या थी? मजूरी की अनिश्चित आय। अब वह सोचने लगा, "दूध होगा, राधा इसे बेच लेगी, महीने में कुछ बँधी रक़म मिलेगी, जो बचे-खुचेगा, हम दोनों के काम आयेगा।" बूढ़े ने अच्छा खाया था, अच्छा पहना था। उसकी स्मृति ने उसकी लालसा लुप्त न होने दी थी। दोनों गौ को पहले भी प्यार करते थे, सेवा करते थे, अब और करने लगे। अब उनके घर दूध होने लगा। बूढ़े ने गली के उस छोर पर रहने वाले ठाकुर के घर बँधी कर दिया। जब बूढ़ा बासी रोटियाँ खाकर काम पर चला जाता, राधा अपना

लोटा माँज, उसमें दूध भर, सिर पर रख, घर में साँकल चढ़ा, ठाकुर के यहाँ दूध देने जाती। जाते समय गौ उसे ग़ौर से देखती, मानो पूछती हो, "यह दूध तुम स्वयं न पीकर कहाँ ले जा रही हो ?" राधा उसे सुहलाकर पुचकारकर चल देती, मानो उसे सांत्वना दे गई हो, कि "अभी, अभी आती हूँ श्यामा !"

ठाकुर की अट्टालिका गली के दूसरे छोर पर थी। वह पत्थर की बनी हुई भव्य और सुसज्जित थी। उसकी ड्योढ़ी पर दरबान बैठा करते थे। राधा अपने सिर पर दूध का लोटा रक्खे सीधे भीतर जाती—अन्तःपुर में बहू जी के पास। बहू जी प्रौढ़ा, पर अकेली थीं; उनके कोई बाल-बच्चा न था। राधा नित्य दूध देने जाती, बैठकर नित्य दूध का उलहना सुनती, उसके शुद्ध होने की सफ़ाई देती और मुस्कराती हुई चली आती। घर आकर वह अपनी गाय को पुचकारती, बछड़े को दुलारती और मन ही मन दोनों की ख़ैर मनाती—ईश्वर को धन्यवाद देती।

राधा पक्की अहीरिन बन गई। उसकी गौ बड़ी दुधार समझी जाने लगी। वह एक जून तीन सेर देती, पर राधा अपने कौशल से कोठी में चार सेर पहुँचाती—उस पर कुछ पिता के लिए रख लेती, कुछ अपने लिए, कुछ बर्तन में लौटाल लाती। उसका पिता अब प्रसन्न रहने लगा, वह मेहनत में मन लगाता—कुछ पैदा करने का प्रयत्न करता। राधा धीरे-धीरे अपनी टूटी गृहस्थी जमाने की बातें सोचती। कभी पिता से कहती, "पैसे एकट्ठे हों तो और गौ खरीदूँ।" पिता सोचता, "अपनी टूटी झोपड़ी की मरम्मत करा लूँ, साफ़-सुथरा मकान बनवा लूँ, राधा का धूमधाम से गौना दे दूँ।" पर अभी सब मन की ही दौड़ थी, जिस पर चढ़ना था वह अभी सामने न आया था।

राधा नित्य दूध लेकर जाती, देकर चली आती। एक दिन वह दूध लेकर पहुँची। देखा, घर में चहल-पहल है—कुछ नये नौकर दीख पड़ते हैं। उसे आश्चर्य हुआ। यह अनहोनी सी-घटना थी। ठाकुर अकेले थे, ठकुराइन के कोई बाल-बच्चा न था। उनके नौकर-चाकर तो राधा ने देखे थे। राधा ने सोचा, "आज कोई उत्सव है।" वह दूध लेकर बैठ गई। कोई दूध लेनेवाला न दीखता था। बहू जी न जाने कहाँ थीं—आज उसे डाँटनेवाला न दीखता था। राधा चुपचाप बैठी थी। उसने पुकारा धीमे और मीठे स्वर में, "बहू जी," कोई उत्तर न मिला। उसने दोहराया "बहू जी......"। किसी ने डाँटकर कहा, "ठहर आती हैं—ऊपर हैं।" वह चुप हो गई। उसे घर लौटने को देर हो रही थी। उसने क्षण भर बाद इधर उधर देखकर पुकारा,"बहू जी......दूध ले लिया जाय।" ऊपर से आवाज़ आई, "ठहर आती हूँ। जान मत खा, काम में हूँ।"

राधा ने सुना, यह बहू जी की आवाज़ थी। बहू जी गोद में बच्चा लिये पहुँचीं; लड़का दो बरस का था। भोला-भाला, गोल-मटोला, सुन्दर, साँवला, चंचल-चपल। राधा ने देखा, एकटक देखने लगी। बहू जी ने टोककर कहा, "देख, नज़र न लगा देना मेरे मोहन को।" राधा हँसने लगी। लगी पूछने, "बहू जी नज़र कैसे लगती है?" बहू जी हँसने लगीं। राधा ने ललचाई हुई आँखों से मोहन की ओर देखा। उसकी गोद में जाने को वह गोद से उतरने लगा। राधा ने हाथ बढ़ाया। वह लपककर उसकी गोद में जा पहुँचा। राधा मोहन को खेलाने लगी। वह हँसता था, वह हँसती थी, मानो जन्म के परिचित हों। राधा किस लिए आई थी यह उसे याद न रहा। बहू जी अपने कामकाज में लग गईं, तब राधा को मानो मोहन को खेलाने को अच्छा अवसर मिल गया। बहू

जी ने डाँटा, "अरी, दूध देगी या नहीं, वहाँ कड़ाही जल रही है। इसे कहाँ तक खेलावेगी, यह बड़ा पाजी है।" राधा दूध नापने लगी। बहू जी ने मोहन को उठा लिया।

राधा जाने लगी। मोहन उसके पास जाने को मचलने लगा। वह लौट पड़ी, "बहू जी, यह किसका बच्चा है? मुझे बड़ा अच्छा लगता है।" उसने विनय से, लज्जा से, डरते-डरते पूछा। बहू जी ने मोहन को उछालते हुए कहा, "यह मेरी नन्द का बेटा है। मोहन—पाजी है, बद-मास है—रोना है।" राधा ने सुन लिया। वह लौट पड़ी, भागी-भागी घर पहुँची। पहुँचकर बैठ गई। बैठकर सोचने लगी। सोचने लगी उसी मोहन की बात, कैसा सुन्दर मुखड़ा है, कैसी घुँघराली अलकें हैं, कैसी काली चंचल आँखें हैं, कैसा साँवला शरीर है, देखते ही बनता है, कैसा हँस-मुख है। कैसा प्यारा है मोहन। देखते ही गोद में आ गया—कैसा हँसता था खिलखिलाकर। कैसी चमकती थीं—चावल की खुदी-सी दँतुलियाँ।"

राधा बैठी सोच रही थी—मोहन की बातें। उसकी शून्य-दृष्टि श्यामा पर पड़ती थी। गौ को उसने आज लौटकर प्यार नहीं किया, उसे चूमा नहीं, पुचकारा नहीं। चिर अभ्यस्त पशु के लिए यह अनोखा अनुभव था। वह तृषित आँखों से उसकी ओर देखती थी। सिर हिलाकर मानो उसे अपने पास बुला रही थी। राधा ने देखा, मानो उसने समझा भी। वह अपनी गौ के पास पहुँची। उसकी पीठ पर सिर रखकर खड़ी हो गई। सोचने लगी। जाने क्या सोचने लगी। गौ प्यार से उसका शरीर चाटने लगी। राधा को होश आया, जब दोपहर का गोला गरज गया! उसे ध्यान आया—उसका सारा काम पड़ा था। वह जल्दी से अपने काम काज

में लग गई, मानो उसने व्यर्थ कहीं खेल-कूद में समय बिता दिया था।

मोहन राधा से खूब परच गया। वह दूध लेकर पहुँचती तो वह उसकी प्रतीक्षा में मिलता। देखते ही पूछता—अपनी तुतली वाणी में—"लाधा तू आ गई।" राधा दूध नापती हुई कहती, "हाँ मोहन, मैं आ गई।" वह उसकी गोद में आ जाता। वह उससे बातें करने लगती। मोहन उसे अपने खिलौने दिखाता। वह प्रशंसा करती। उनमें से दो-एक उठा ले जाने की धमकी देती। मोहन उससे छीनने का प्रयत्न करता। वह छिपा देती। वह उसे पीटने लगता। वह रोता। वह हँसती। वह खिलौने, 'छू मंतर' कहकर निकाल देती। वह पाकर प्रसन्न हो उठता। वह खिलखिला कर हँस पड़ता। उसके नन्हें-नन्हें दूध के दाँत चमक उठते। राधा उसे पकड़कर उसका मुख चूम लेती। वह अपने को छुड़ाकर अपने खिलौनों से खेलने लगता। ऐसा नित्य होता था। जब राधा ठाकुर के घर दूध लेकर पहुँचती, उसका लौटने का जी नहीं होता। पर वह लौटती थी—लौटना ही पड़ता था।

मोहन धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। वह घर में अकेले घूमने लगा। सम्पन्न का पुत्र—अमीर का भानजा वह मोहन अब कभी-कभी अकेले खेलते हुए भी दिखाई पड़ता। कभी द्वार पर, कभी ड्योढ़ी में, कभी नीचे आँगन में। अब नौकर उसकी उतनी निगरानी भी न करते। पर वह गली में उतरने नहीं पाता था। मामा की आज्ञा थी—माता दण्ड देगी। पर मामी उसे कुछ न कहेगी, यह मोहन जानता था। मोहन इस परिणाम पर एक दिन में नहीं पहुँचा था। मामा के घर आकर, इतने दिनों रहकर अपने अल्प जीवन की इनी-गिनी घटनाओं की नित्य-प्रति विलीन होती हुई स्मृति का सहारा लेकर, अपनी तीव्र होती तर्कना से तर्क करके

मोहन इस परिणाम पर पहुँचा था कि, मामी उसे प्यार करती है और वह उसे किसी काम से रोकेगी नहीं—कम से कम दण्ड न देगी, उसकी इच्छा के विरुद्ध हठ न करेगी। उसे अपनी माता पर विश्वास न था, पर उसे अपनी मामी पर विश्वास था। वह उससे हठ करता, हठ करके उससे अपने इच्छानुसार काम करा लेता—उसके पास अपराध करके हँसता हुआ आता—आलिंगन, चुम्बन और प्यार के लिए विजयी की भाँति जाता था। उसकी आशा पर कभी कुठाराघात न हुआ। उसके अनुमान में कभी भूल नहीं प्रमाणित हुई। इसी से मोहन जानता था कि वह यदि मामी से हठ करेगा तो वह उसे राधा के घर जाने देगी; अवश्य जाने देगी।

राधा दूध लेकर पहुँची। मोहन आँगन में छड़ी का घोड़ा बनाये, उस पर चढ़ा सवारों की भाँति चक्कर लगा रहा था। राधा ने आँगन में पैर रखते ही कहा, "वाह मोहन, खूब चढ़ते हो घोड़े पर!" मोहन रुक गया। उसका घोड़ा रुक गया। उसने अभिमान से राधा की ओर देखा, जैसे कोई खिलाड़ी अपने करतब की प्रशंसा होने पर देखता है। बोला—"लाधा, इसी पर चलकल मैं तुम्हाले घल चलूँगा।" राधा चुपचाप सीढ़ी पर चढ़ने लगी। उसने कुछ उत्तर न दिया। मोहन का यह नित्य का प्रस्ताव था। बच्चों का प्रस्ताव ही क्या! राधा इसका क्या उत्तर देती? पर वह उदास क्यों होगई? सम्भव है उसे प्रस्ताव ही प्रस्ताव समझकर। वह दूध देने ऊपर चली गई। मोहन एकाएक उसकी ओर देख रहा था। उसे आज राधा की चुप्पी से आश्चर्य्य हुआ था। उसके बाल-हृदय को धक्का पहुँचा था। वह सोचने लगा, "राधा नाराज़ हो गई है—मैं उसके घर नहीं जाता—वह मेरे घर रोज़ आती है।" बालक ने—हठी मोहन ने—क्षण भर में संकल्प कर लिया, "आज राधा

के घर जाऊँगा—ज़रूर जाऊँगा और इसी घोड़े पर चढ़कर ! इसी तरह उचकता हुआ। लोग देखेंगे—कहेंगे—"वाह मोहन ! खूब चढ़ते हो घोड़े पर ?" इस विचार से मोहन प्रसन्न हो उठा। उसका संकल्प भीष्म का संकल्प हो गया। वह छड़ी छोड़ सीढ़ी से चढ़ता हुआ मामी के पास पहुँचा—सीधे मामी के पास। पहुँचते ही,दृढ़ता से, विनती से, हठ से, आग्रह से बोला, "मैं लाधा के घल जाऊँगा," और विद्रोही आँखों से, नीची आँखों से, रोहाँसी आँखों से, डबडबाई आँखों से, उसने अपनी मामी को देखा। मामी को अब कहाँ मौक़ा था आगा-पीछा सोचने का। वह प्यार से आगे बढ़ी, उसे छाती से लगा लिया। हँसती हुई बोली, "जाना बेटा, राधा के घर। इसके लिए झगड़ने आया है तू मामी से।" बालक का कोमल हृदय प्यार-भरे उपालम्भ का भारी आघात न सह सका। वह मामी की गोद में सिर छिपाकर सिसकने लगा। क्यों ? यह वही मोहन जाने !

राधा अपने दूध का लोटा सामने रक्खे बैठी थी। विचारों में मग्न—जाने किन विचारों में मग्न। पर वह विचारों में डूबी हुई थी, उसकी अचल मुद्रा यह प्रकट कर रही थी। ठकुराइन पहुँची—मोहन को गोद में लिये। राधा ने मानो ध्यान ही न दिया। सोचती थी, "पहले दूध का उलहना देंगी। दूध वही है, उलहना वही होगा"। मामी का उलहना राधा के लिए अभ्यर्थना थी। नित्य के राम-राम पर कौन ध्यान देता है ! राधा दूध नापने बैठी। मामी ने मोहन को गोद से उतार दिया। वह राधा के पास अभियुक्त-सा खड़ा हो गया—एक हाथ राधा के कंधे पर रख, दूसरा हाथ अपनी ठुड्ढी पर रख, आँखें नीची कर, मचलने की मुद्रा में। मामी ने हँसते हुए कहा, "राधा ! तू बड़ी मायाविनी है—क्या सिखला दिया तूने मोहन को ? वह तेरे घर जाने को

हठ कर रहा है।" राधा ने सुना मामी का उलहना। पर इस उलहने से वह विचलित हो उठी। क्यों? उसकी आँख सजल हो गई। उसका हृदय धड़कने लगा। पर वह अहीरिन थी। दूध में पानी मिलाकर वह नित्य, निडर होकर, उसे बेचने आती थी। वह सँभल गई। वह हँसने लगी। और बोली वह राधा—भोलेपन से और मोहन से, "क्यों जी मोहन! तुम हठ करते हो, मामी मुझे मायाविनी कहती हैं।" मोहन ने उत्तर न दिया, केवल कुछ खिसककर उसके और समीप खड़ा हो गया। अब उसका एक हाथ राधा के गले से लिपटा था। राधा हँसती हुई दूध नापने लगी। मोहन दोनों हाथों से उसका गला पकड़ उसकी पीठ पर सवार हो, उसे हिलाने लगा। और लगा मचलकर, हँसकर, बार-बार कहने, "हाँ चलेंगे! जलूल चलेंगे" राधा ने काँपते हुए हाथों से दूध का एक पाव, दो पाव, नाप दिया। हाथ हिल रहा था; दूध छलक रहा था। उसने सारा दूध बर्तन में उँडेल दिया। मामी से उसने कहा, "बहू जी, पूरे चार सेर हैं, कुछ ज़्यादा होगा। नाप लीजिएगा।" मामी ने आज नापने का आग्रह नहीं किया। राधा मोहन को लेकर घर चली।

मोहन अपने छड़ी के घोड़े पर था। राधा उसके आगे-आगे जा रही थी। मोहन का नौकर उसके पीछे-पीछे आ रहा था। मोहन उमंग में था। उसका काठ का घोड़ा भी तेज़ था। वह आगे निकल जाता। राधा पीछे पड़ जाती। मोहन रुक जाता और पूछता, "कहाँ है तुम्हाला घल लाधा?" राधा कहती, "वह सीधे, गली की छोर पर।" मोहन उतावली करता, कहता—"लाधा, तुम तो दौल नहीं छकती। आओ मेले घोले पल चल्ह लो।" राधा हँसने लगती, कहती—"आओ मेरे साथ-साथ चलो न।" मोहन ने राधा की उँगली पकड़ ली, दोनों साथ-साथ

चले—राधा अपने पैरों पर, मोहन अपने काठ के घोड़े पर। दोनों घर पहुँचे। राधा ने लपककर साँकल खोली। मोहन घर में घुँस पड़ा। श्यामा रास्ते में बँधी थी। उसने मुँह बढ़ाकर स्वागत किया—राधा का। पर एक अपरिचित को देखकर कुछ चौंकी, कुछ सिर हिलाया। मोहन डर कर पीछे हट गया। राधा ने झट उसे गोद में उठा लिया, बोली, "यह मारती नहीं मोहन! यह मेरी गौ श्यामा है।" वह गाय के समीप पहुँचकर उसे सुहलाने लगी। गौ उसका हाथ चाटने लगी। मोहन ने डरते-डरते गाय को छूआ; वह कुछ न बोली। उसने उसकी पीठ पर हाथ फेरा; वह प्रसन्न होकर उसे देखने लगी। मोहन ने धीरे-धीरे उसका सिर सुहलाया, उसके सींग छूए; गाय ने मुँह बढ़ा दिया, मानो उसे अच्छा लगता हो। मोहन गोद से उतर पड़ा और गाय को प्यार करने लगा। राधा चिन्ता में पड़ गई, "मेरी मालकिन का लड़का घर आया है उसकी क्या ख़ातिर करूँ"? उसके घर में क्या था? थोड़ा-सा दूध और जौ की रोटी! उसने मोहन से पूछा, "मोहन दूध पीओगे।" मोहन गाय के बच्चे को गले लगाने की चेष्टा कर रहा था। वह रह-रहकर उछलता, कूदता। मोहन उसे बार-बार पकड़ने की चेष्टा करता।

राधा ने कटोरे में दूध रखकर मोहन को पुकारा, "मोहन! लो थोड़ा दूध पी लो।" मोहन ने बछड़े को छोड़ कटोरे से मुँह लगा दिया। थोड़ा-सा दूध पीकर बोला, "लाधा! बला मीथा है तुम्हाला दूध।" "और घर का दूध मीठा नहीं होता मोहन?" राधा ने विनोद से पूछा। "नहीं लाधा।" मोहन ने मुँह बिचका दिया। राधा पूछकर पछताने लगी। उसे सहस्र बिच्छुओं ने मानो एक साथ डंक मार दिया हो। अपराधी की भाँति वह अपना अपराध सोचने लगी। मोहन फिर बछड़े से खेलने

लगा। राधा ने निश्चय कर लिया कि अब वह दूध में पानी न मिलावेगी। पर अपने निश्चय वह पर क्षण भर से अधिक न ठहर सकी। चतुर अहीर की छोकरी ने तुरन्त उपाय सोच लिया। उसने मोहन को सम्बोधन कर कहा, "मोहन, मीठा दूध पीना हो तो रोज़ मेरे घर आया करो।" मोहन ने प्रस्ताव स्वीकार करते हुए बाल-सुलभ दृढ़ता से कहा, "हाँ, लोज़ आऊँगा लाधा, मुझे मीथा दूध अत्था लगता है।" दोनों कुछ देर विनोद कर रहे थे। मोहन को राधा ने अपनी टूटी झोपड़ी का कोना-कोना दिखलाया। मोहन ने एक-एक चीज़ के विषय में पूछा, "यह क्या है, इससे क्या होता है, ऐसा क्यों है, ऐसा क्यों नहीं है, क्या यह खाने की चीज़ है, खेलने की चीज़ है" ? राधा प्रत्येक बात का उत्तर देती, भरसक मोहन को समझाने का प्रयत्न करती। अन्त में राधा ने मुसकराते हुए और मन में लजाते हुए, परिहास में पूछा, "मोहन हमारा घर अच्छा है ?" मोहन ताली बजाकर, अनुमोदन की ध्वनि में कहा, "हाँ लाधा, तुम्हाला घल बड़ा अच्छा है।" और वह सिर हिलाने लगा, आँखें मटकाने लगा। राधा ने बालक की चेष्टा का अनुकरण करते हुए कहा, "झूठ, मोहन ! तुम्हारा घर पक्का है, बड़ा है, सुन्दर है। मेरा घर उतना अच्छा कहाँ !" मोहन अपना प्रतिवाद न सह सका। उसने राधा के मुँह पर अपनी छोटी हथेली रखते हुए कहा, "नहीं, नहीं ! तुम्हाला घल अत्था है। तुम्हारे यहाँ गाय है। गाय का बच्चा है। तुम्हाले यहाँ मीथा दूध होता है। नहीं, नहीं, तुम्हाला घल अच्छा है ! हमाला घल कहाँ अत्था है ?" यह कहने के बाद उसकी मुख-मुद्रा मलीन हो गई। मोहन मानो सोच में पड़ गया था। राधा ने उसे गोद में उठाते हुए कहा—"हमारा घर अच्छा है मोहन ! तुम ठीक कहते हो," और कुछ सोचती हुई वह गाय की

गर्दन पर हाथ फेरने लगी। मोहन अपनी बातें भूलकर उसका अनुकरण करने लगा।

मोहन अब राधा के घर नित्य आता—खुलकर, छिपकर ; मामी से लड़कर, झगड़कर, मचलकर वह आने की आज्ञा ले लेता। राधा भी जब उसके यहाँ दूध पहुँचाने जाती तब वह मोहन को इशारे से, बहकाकर फुसलाकर, प्रलोभन देकर अपने यहाँ ले आने की चेष्टा करती। मोहन जिस दिन उसके घर न आता, राधा को कुछ अच्छा न लगता। उससे घर में काम ही न होता। वह रह-रहकर उसके आने की प्रतीक्षा करती, दौड़कर द्वार पर जाती, पहुँचकर गली से मोहन के मकान की ओर देखती और निराश हो अपना काम सँभालने लगती। पर उसका काम पूरा ही न होता। संध्या को उसका पिता आता तो देखता कि, कहीं बर्तन जूठे पड़े हैं, कहीं गोबर उठाया नहीं गया है, कहीं कुछ बाकी है, कहीं कुछ बाकी। वह पूछता, "बेटी, आज धन्धा क्यों पड़ा है ? क्या तेरी तबीयत अच्छी नहीं है ?" राधा चुप रह जाती, वह सोचती, उसकी तबीयत तो ठीक है। परन्तु फिर वह सोचती, यदि ठीक होती तो काम में जी क्यों न लगता। वह पिता के प्रश्न का कुछ निश्चित उत्तर न पाकर केवल 'हूं' कर देती और जल्दी से अपना धन्धा पूरा करने लगती। पिता थका-माँदा आता, खा-पीकर सो जाता। राधा उदास मन होकर मोहन का चिन्तन करती।

मोहन की बालसुलभ चपलता, वाचालता और कौतुक-प्रेम ने राधा के सोते हुए लड़कपन को जगा दिया था। अब उसे बच्चों-सा खेलना, दौड़ना, मचलना, मार-पीट, रोना, गाना अच्छा लगने लगा। पर वह किसके साथ यह सब करे ? जब मोहन नहीं आता तब वह क्या करती ?

वह उदास हो जाती। यह स्वाभाविक था। मोहन पहुँचता तब वह खिल जाती। मोहन अब धीरे-धीरे आठ बरस का हो रहा था। हृष्ट-पुष्ट, चपल और सुन्दर बालक था। साँवला और सुडौल था। उसके केश काले और घुँघराले थे। वह बहुत ढीठ हो गया था। वह उसके घर आता तो बड़ा ऊधम मचाता। उसकी हर एक चीज़ उलट-पुलट कर देता। उसे चिढ़ाता, परेशान करता, कभी-कभी मार भी बैठता। राधा कभी चिढ़ जाती, भुँझला उठती, मार बैठती, पर पीछे पछताने लगती। उसे मनाती—प्रेम से मनाती, हठ करके मनाती। मोहन मान जाता, हँसने लगता। फिर दोनों मिलकर घर की वस्तुएँ ठिकाने रखते। गाय की सानी-पानी करते। राधा मना करती, पर मोहन न मानता। हर काम में उसके पीछे-पीछे लगा रहता। राधा गाय दुहने लगती, मोहन बछड़े को पकड़-कर उसके समीप खड़ा होता और गाय को सुहलाता। वह दूध दुहती। दूध की धार दुहेंड़ी में पड़कर 'घर' 'घों' का स्वर अलापती। मोहन उसे सुनता हुआ तन्मय होकर जाने क्या सोचने लगता। राधा कहती, "मोहन बछड़े को छोड़ दो।" मोहन चौंक कर पूछता, "क्या कहती हो राधा?" उसकी मुख-मुद्रा देखकर राधा खिल-खिलाकर हँस पड़ती। मोहन एकटक उसका मुख देखता हुआ पूछता, "तुम क्यों हँसती हो जी?" राधा पूछती, "तुम क्या सोच रहे थे मोहन?" मोहन कुछ उत्तर न देकर झेंप जाता। फिर मचल कर कहता, "मुझे भी दुहना सिखलाओ राधा। मैं भी दुहूँगा।" राधा कहती, "तुम यह सब सीखकर क्या करोगे मोहन?" मोहन हठ करने लगता। राधा उसे दुहना सिखलाती। मोहन बड़े उत्साह से दुहना सीखता। एक दो धार दुहता। राधा से पूछता, "ठीक है? एसा दुहा जाता है?" उसकी धार दुहेंड़ी में न गिरकर भूमि

पर गिरती। राधा हँसने लगती, कहती, "दुहँड़ी की ओर देखो मोहन। दुहते समय मुझे मत देखो।" मोहन चैतन्य हो जाता। वह नीचे सिर कर दुहने लगता। उसकी चुटकियाँ थक जाती थीं, पर वह लज्जावश कुछ न कहता था। उसके हाथ धीरे-धीरे चलते। राधा समझ जाती। हटकर दुहँड़ी छीनकर दुहने बैठ जाती। मोहन बछड़े को सँभालने लगता। प्रसन्नता से बालसुलभ आनन्द से, वह हँसकर कहता, "अब मुझे दुहना आगया राधा! अब मैं भी मामी से कहकर गाय ख़रीदूँगा।"

एक दिन राधा दूध लेकर कोठी में पहुँची। पहुँचते ही देखा, मामी मोहन को फिटकार रही है। राधा ने पूछा, "क्या हुआ बहू जी?" मामी ने मोहन की ओर तिरस्कार भरी आँखों से देखकर कहा, "यह मोहन बड़ा खिलाड़ी है, पढ़ना-लिखना इसे अच्छा ही नहीं लगता। इसके गुरु जी बैठे हैं, यह घर में घुसा मेरे पीछे-पीछे छिपता फिरता है। कहती हूँ तो मुझसे झगड़ने लगता है।" राधा ने मोहन की ओर देखा। वह अपने अपराध पर मानो लज्जित हो गया था। उसकी आँखें नीची और संभवतः आँसुओं से भरी हुई। उसकी मामी ने राधा से उसकी शिकायत की, यह मोहन को अच्छा न लगा। उसे अपने अपराध का उतना दुख न था जितना यह सोचकर कि राधा मुझे क्या समझेगी। राधा ने पूछा, "क्या है मोहन! मामी क्या कहती हैं?"—उसने मीठे स्वर से मुस्करा कर कहा था। मोहन अपने हृदय का भार हलका करने के लिए उसके समीप आ पहुँचा। राधा ने उसे हिलाकर पूछा, "बोलते क्यों नहीं मोहन? तुम मुझसे भी रूठ गये? वाह जी! तुम बड़ी जल्दी रूठते हो।" वह उसे पकड़कर मनाने लगी, हँसाने की चेष्टा करने लगी। मोहन अभी तक अपराध की अनुभूति और अपनी

आत्मग्लानि पर विजय न पा सका था। उसने दबी ज़बान में कहा, "राधा, मैं पढ़ूँगा—पर गुरु जी से नहीं, तुम पढ़ाओगी तो पढ़ूँगा, राधा!" यह कहकर वह राधा से लिपट गया, मानो उसे यह शंका उठी हो, कि, उसके प्रस्ताव के विरोध में उसे कोई पकड़ ले जायगा। राधा चिन्तित होगई। वह पढ़ी-लिखी न थी। ये सब उसके लिए वर्जित वस्तुएँ थीं। अतः उसे अब चिन्ता न रही, उसने हँसते हुए कहा, "मोहन, मैं तो पढ़ी-लिखी नहीं हूँ। कैसे तुम्हें पढ़ाऊँगी?" मोहन चिन्ता में पड़ गया। "राधा पढ़ी-लिखी नहीं है। मेरी तरह उसे भी डाँट सुननी पड़ेगी," उसने दृढ़ता से कहा, "अच्छा मैं तुम्हें पढ़ा दूँगा। राधा! मेरे पास अच्छी-अच्छी किताबें हैं।" "पर तुम स्वयं तो पढ़ते नहीं। मुझे कैसे पढ़ाओगे मोहन?", राधा ने उत्तर दिया। दाता का ऐन वक्त पर मानो जेब कट गया हो। मोहन अवाक् होगया। यह उसने न सोचा था। कोई उपाय न देख उसने दृढ़ता से कहा, "अच्छा राधा मैं पढ़ लूँगा तब तुम्हें पढ़ाऊँगा।" राधा ने यों ही उत्तर दिया, "हाँ जी, पढ़ लो तब मुझे पढ़ाना मोहन! अब गुरु जी के पास पढ़ोगे न।" मोहन राज़ी हो गया। उसने निश्चय कर लिया कि जल्दी-जल्दी पढ़कर राधा को पढ़ाऊँगा। यह विचार उसको बड़ा प्रिय लगने लगा। वह खूब जी लगाकर पढ़ने लगा।

जब राधा पहुँचती तब मोहन उसे अपना पाठ सुनाने के लिए हठ करता। उसे सुनना पड़ता था। वह तख्ती पर 'राधा' लिखकर लाता—टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में। राधा से कहता, "पढ़ो।" राधा उसे टालने के लिए पढ़ देती "मोहन।" मोहन उसकी मूर्खता पर हँसने लगता। वह अपने को पढ़ा-लिखा समझता, कहता, "तुम अपना नाम नहीं पढ़ सकती राधा!" राधा उसकी प्रसन्नता देख प्रसन्न हो जाती, उसके भोलेपन पर लट्टू हो

जाती। मोहन जब राधा को पाता तो बड़े उत्साह से पढ़ने-लिखने की बातें करता, अपनी पुस्तकों के सुन्दर सुन्दर-रंगीन चित्र दिखाता, अपनी याद की हुई कहानी सुनाता, हँसता और हँसाता। राधा उसकी किताबें देखती, उसके बताये हुए अक्षरों को पहचानने का प्रयत्न करती, उसकी कहानियाँ याद करती और मोहन को सुनाकर स्मरण रखने का अभ्यास करती।

❀ ❀ ❀ ❀

मोहन अब स्कूल में पढ़ता था—अँगरेज़ी स्कूल में। उसे अब अपनी किताबों से कम फ़ुर्सत मिलती। राधा अब दूध लेकर कोठी में नहीं जाती, उसकी गाय अब दूध नहीं देती थी। वह किस बहाने वहाँ जाती? जाना चाहती पर न जाती। मोहन अपनी किताबों, अपने पाठों, अपने स्कूल, अपने हाकी, क्रिकेट के मैचों में धीरे-धीरे रमने लगा। राधा के घर आने, उसके साथ खेलने का अब उसे कम अवकाश मिलता। पर अब भी उसे राधा भूली न थी। वह स्कूल जाते हुए उसके घर की ओर से निकलता। क्षण भर द्वार पर खड़ा होता और एक बार पुकारता "राधा।" राधा दौड़कर द्वार खोलती; देखती, मोहन आगे बढ़ गया है। वह दरवाज़े से सिर निकाल कर देखती। वह मुड़कर देखता, वह बुलाती, वह आगे बढ़ा जाता और कहता जाता, "स्कूल की देरी हो रही है।" राधा द्वार बन्दकर मोहन की बाल-क्रीड़ाओं का चिन्तन करती, सोचती, छुट्टी पावेगा तो आयेगा। वह लौटते समय आता, बैठकर बातें करता, कहता—"राधा, कुछ खिलाओ। अब तो तुम कुछ खिलाती ही नहीं। मक्खन, दूध, दही कुछ भी नहीं।" राधा दुखी हो कहती, "मोहन खिलाऊँगी, गाय को ब्याने दो।" और वह ढूँढ़कर कभी गुड़, कभी कुछ लाकर देती। मोहन

उसे प्रेम से खाता। राधा पूछती, "मोहन तुम अब आते क्यों नहीं ?" मोहन कहता, "पढ़ने से तो छुट्टी ही नहीं मिलती राधा! और फिर आता तो हूँ। एक बात है, पर कहूँगा नहीं, तुम्हें दुख होगा।" राधा हँसती हुई पूछती, "क्या है मोहन ? कहो न, तुम्हें मेरी कसम।" मोहन दुख से, बेबसी से कहता, "लड़के मुझे चिढ़ाते हैं, कहते हैं, अरे, मोहन अहीरिन के घर जाता है !" राधा पर उस उपहास का कुछ प्रभाव न पड़ता। वह पूछती, "और तुम्हें मेरे घर आने की इच्छा होती है ?" मोहन अपने हृदय को ढूँढ़ता हुआ कहता, "हाँ, होती है राधा ! पर कब आऊँ ? छुट्टी नहीं मिलती है।" मोहन चला जाता। राधा उसे विदा कर देती।

❀ ❀ ❀ ❀

अब न वह मोहन रहा, न वह राधा। मोहन अब अँगरेज़ी मिडिल में पढ़ता था। वह बारह वर्ष का हो गया था। राधा पूर्ण युवती हो गई थी। वह साधारण अहीरिन की लड़की थी। पर वसंत केवल रसाल-वन ही को नहीं शोभा से भर देता। अब राधा देखने में सुन्दरी लगती थी, पर उसको इसका ज्ञान न हुआ, और न हुआ उसके मोहन को ही इसका कुछ भी ज्ञान। उसका पिता अवश्य उसकी बढ़ती हुई आयु और अपना बढ़ता हुआ बुढ़ापा देखकर कुछ चिन्तित हो जाता। वह निर्धन उसे कैसे विदा करता ?

मोहन के दर्शन अब दुर्लभ होते जाते। वह कभी-कभी उसी गली से, राधा की टूटी झोपड़ी के द्वार के सामने से, अपनी परीक्षा की चर्चा करता हुआ, अपने टीम की प्रशंसा करता हुआ, अपने सहपाठियों के साथ निकलता। राधा उसे देख लेती, उसे पुकारना चाहती; पर न पुकारती।

मोहन एक बार उसके द्वार की ओर देखता हुआ आगे बढ़ जाता। राधा उसके घर जाकर उससे मिलना चाहती, अपने दिल की बातें करना चाहती। उसका पिता अब न रहा; पर वह न जाती। कह नहीं सकते कि मोहन के मन की क्या दशा थी? पर वह न कभी राधा के घर आता और न कभी उससे बातें करने का अवसर ढूँढ़ता। समाज के भय का भयानक भूत मानो धीरे-धीरे उसके मन में घर कर रहा था। हो सकता है, राधा के मन में वह उससे पहले पैठ चुका हो।

मोहन अब उस गली से भी जाता न दिखाई देता। वह अब कालेज में पढ़ता था और विश्वविद्यालय के बोर्डिंगहौस में रहता था। राधा ने इतना कहीं से सुन रक्खा था। वह पूछती फिरती, "कालेज क्या है? बोर्डिंग क्या है? कहाँ है? वहाँ से लोग कब लौटते हैं?" राधा ने सुना, 'कालेज में छुट्टियाँ होती हैं, छुट्टियों में लोग घर आते हैं।' वह आशा करने लगी, मोहन को भी छुट्टियाँ मिलेंगी वह भी घर आयेगा। वह छुट्टियों की प्रतीक्षा करती, एक-एक कर दिन गिनती। छुट्टियाँ आईं। मोहन घर आया। पर आते ही पहाड़ चला गया। राधा मोहन को न देख सकी। पर वह निराश न हुई। सोचती, कभी आवेंगे ही। पर वह उसके घर कभी न आया।

मोहन से मिलने के लिए राधा अधीर हो उठी। मोहन को एक बार देखने की अभिलाषा उसे व्याकुल करने लगी। मोहन आया है, राधा ने सुना। उसका विवाह होने वाला है, यह भी उसने सुना। वह लज्जा छोड़कर उसके घर जा पहुँची—उसे देखने के लिए—उससे बातें करने के लिए। उसने देखा, वहाँ पहुँचकर, मोहन वह मोहन नहीं है, वह सूट-बूट-धारी, दाढ़ी-मूँछ-हीन, एक हृष्ट-पुष्ट पुरुष हो गया है। वह जाने

किस आशा से, जाने किस उमंग से, उसके सामने जाकर खड़ी हो गई। मोहन ने उसकी ओर देखा—निर्विचार देखा। राधा इसका आशय न समझ सकी। मोहन ने मुँह फेर लिया। किसी की डाँटने की आवाज़ राधा के कानों में पड़ी, "कौन है रे! वहाँ साहब के पास जा कर खड़ी हुई है।"

राधा वहाँ से भागी। भागी-भागी घर पहुँची। अब उसे मोहन को देखने की इच्छा नहीं रही और न कभी उसके घर जाने का वह नाम लेती। वह अकेली बैठी अपने बाल-मोहन का चिंतन किया करती—उस मोहन का जो उसे चिढ़ाता था, परेशान करता था, मारता था, पीटता था, उसके घर पहुँचकर दूध पीता, गाय दुहता, ऊधम मचाता। उसे लोग पगली कहते, पर उसके किसी व्यवहार में पागलपन नहीं दिखाई पड़ता, हाँ, यदि कोई उसकी बिदाई की बात चलाता तो वह उसे गालियाँ देती, मारने दौड़ती। क्या वह सचमुच पागल थी?

❀ ❀ ❀ ❀

सूर के समालोचक राधा के आचरण की आलोचना करते हैं। वे इस राधा के आचरण की भी आलोचना करेंगे। इसका भी नाम राधा था!

❀ ❀ ❀ ❀

वह भोली-भाली राधा!

वह अंधी थी?

उसे लोग सूरदास कहते थे। वह दोनों आँखों का अन्धा था; पर उसका नाम सुखराज था। जब से उसकी आँखें सीतला (चेचक) को भेंट हुईं, उसका नाम 'सूरदास' पड़ गया। इसका कारण हम नहीं बता सकते। सम्भव है हमारे साहित्य के महारथी, भक्त सूरदास और आँखों के तिरोहित होने से कोई सम्बन्ध स्थापित कर सकें, पर यह तो 'खोज' का विषय ठहरा, जो कहानी-लेखकों की परिधि के परे है।

सूरदास उस जाति का कुलभूषण था, जिसे हमारा आधुनिक हिन्दू-समाज अब तक एक अप्रिय विशेषण से भूषित करके, अपनी उदारता का परिचय देता रहा है। हम इतने उदार नहीं, अतः आधुनिक हिन्दू-समाज की शब्दावलि का वह शब्द व्यवहार में न लाकर, हम केवल इतना ही

कहेंगे कि वह भी हमारे हिन्दू-समाज का एक सदस्य था, वह भी 'भारतीय' के नाते हमारा भाई था। उसका पिता गाँव के ज़मींदार के यहाँ हलवाहा था। अपने छोटे कुटुम्ब को लेकर वह जीविका के लिए किसी दूर के गाँव से अपनी दो-एक हाँडियाँ, चीथड़ों का गट्ठर और एक टूटी चारपाई लेकर उस गाँव में बसने आया था। उस समय उसके कुटुम्ब में केवल तीन ही प्राणी थे। उसकी स्त्री, उसकी गोद में यह सुखराज और उसका पति, ज़मींदार का भावी हलवाहा।

मालिक ने हलवाहे को गाँव के बाहर उस टोले में बसने की जगह दी थी, जहाँ वह या उसके नौकर कभी भूलकर भी पैर न रखते थे। यदि शहर होता तो हम उसकी तुलना अपने सिविल लाइंस से करते, पर वहाँ तो परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। अतः हम उपमा के झमेले में न पड़कर उस टोले का वर्णन ही करेंगे।

हम कैसे अपने नागरिक पाठकों को उसका पूर्ण ज्ञान करा सकते हैं? पाठकों में से यदि किसी ने कभी देहात का भ्रमण किया होगा, तो उसने गाँव के दक्षिण या पश्चिम की ओर हमारे उन भाइयों की बस्ती देखी होगी, जिनके उद्धार के लिए न कांग्रेस को चिन्ता है, न सरकार को परेशानी है। ये लोग अछूत कहलाते हैं, इनके बिना हमारी खेती का कारबार क्षणभर भी नहीं चल सकता। माना, इनके ही भरोसे हम ज़मींदारी का मज़ा लेते हैं, पर क्या कभी हम इनकी दशा पर ध्यान देते हैं? इनके महल्ले में आपको शायद ही दो-तीन हाथ से ऊँची कोई झोपड़ी मिले—उसमें मुश्किल से एक चारपाई पड़ सकती है—पर ये 'मनुष्य' इसी में रहते हैं, और इनके परिवार में पाँच-छः से कम प्राणी नहीं होते! इनके घरों के सामने गन्दे पानी से भरी गड़हियाँ, इनके पीछे बदबूदार कूड़ों

का अंबार आप देखेंगे। छाजन यदि कुम्हड़े, लौकी आदि की बेलों से ढकी न हो तो सारा आसमान नंगा नज़र आने लगे। इसीमें रहकर वे जाड़ा-गर्मी बरसात काटते हुए आजीवन सन्तुष्ट रहने का प्रयत्न किया करते हैं। यदि वर्ण-व्यवस्था का विषमय पाठ इन्हें सदियों से न पढ़ाया गया होता, तो ये हम जैसे मनुष्य आज न जाने क्या कर बैठते। सम्भव है, हमारे समाज का अस्तित्व ही मिटा देते ! इस विचार पर 'वर्णाश्रम' वाले काँप उठें तो उठें, पर हम ऐसे भीरु-हृदय नहीं, कि असम्भव की कल्पना पर आसमान सिर पर उठा लें।

हमारा सुखराज इसी टोले में, एक झोपड़ी में रहता था। उसका पड़ोसी उसी का भाई-बन्धु था। सुखराज का पिता दिन भर मालिक के यहाँ नौकरी बजाता। उसकी माता उसे अपने पड़ोसी के बच्चों के साथ खेलने के लिए छोड़कर खेत में मजूरी करने जाती। दोपहर को जब कभी माता-पिता लौटते तो सुखराज उनके साथ बैठकर मडुए की रोटियाँ खाता और उनके साथ खेत में चलकर काम करने का हठ करता। उसके बाल-मस्तिष्क में हल जोतने, बैलों को हाँकने और खेत निराने, बैठाने, काटने आदि की क्रियाओं की मधुर कल्पना उठती; वह पिता के बराबर शीघ्र हो उठने के लिए व्याकुल हो उठता ; पर यह उसके बस की बात थोड़े ही थी ! पिता-माता चले जाते, सुखराज पड़ोसियों के बच्चों के साथ खेती के कामों की नक़ल करता। अपने दो साथियों को बैल बनाकर, बाँस की लम्बी लाठी को हल बनाकर, वह हलवाहे की भाँति घर के सामने की ज़मीन जोतता, उसमें कँकड़ियों के बीज बोता और फिर अपने साथी बैलों को खूँटे से बाँधकर, नीम की छाया में बैठकर, दोपहर के नाश्ते की राह देखता। उसे साध होती, कि उसकी 'घरवाली' अभी तक चबेना क्यों

नहीं लाई। वह उत्सुकता से सामने की झोपड़ी की ओर देखता और तुतली भाषा में कुछ रोब और अपने पिता के तुल्य क्रोध में, "रधिया! रधिया!" पुकारता।

'रधिया' सामनेवाले मकान—नहीं—झोपड़ी से मूँज की छोटी मौनी लेकर उसके समीप आ पहुँचती और बड़ी सावधानी से उसे सिर से उतार कर सुखराज के सामने रखती। सुखराज उसे खोलकर देखता, तो वह नीम के पके फलों से भरी होती थी। वह दोपहरिया का भोजन करने बैठता। उसके दोनों मनुष्याकार बैल खूँटा तुड़ाकर उसके भोजन में भाग लेने आ पहुँचते। रधिया भी अब अपना हिस्सा लेकर कूद-कूदकर खाने लगती। चारों बच्चे फिर दूसरा खेल खेलने लगते यह नित्य का धन्धा था। रधिया की अवस्था चार साल की होगी, पर वह माता की अनुपस्थिति में अपने को घर की मालकिन समझने लगी थी। उसका पिता अभी तक दूसरी स्त्री लाने पर राज़ी न हुआ था। वह सुखराज के पिता के साथ उसी मालिक के यहाँ काम करता। कभी-कभी खेत में देर हो जाने पर सुखराज की माता उसका भी भोजन अपने घर बना देती। दोनों घरों में इसी प्रकार का सम्बन्ध था।

गाँव में सीतला का प्रकोप बढ़ा। सीतला देवी जब कभी देहात का दौरा करती हैं, तो उनका पड़ाव विशेष कर इसी टोले में पड़ता है। ग़रीबों से उन्हें भी प्रेम है। हमारे जितने देवता हैं, सभी 'ग़रीबनिवाज' हैं, तो देवियाँ क्यों न हों! सीतला देवी ने कृपा की; दोनों घर के दोनों बच्चे एक साथ उनकी गोद में लेटे। दोनों पुरुष खेत में काम करने जाते। माता सुखराज और रधिया का कराहना बैठकर सुनती, रह-रहकर पानी पिलाती और भूत-प्रेत और ईश्वर की दोहाई देती, पर जिसकी पुकार

मनुष्य नहीं सुनता, उसकी वे सब क्यों सुनने लगे। सीतला ने प्रस्थान किया। रधिया को तो देवी ने केवल कुरूप कर दिया, पर सुखराज की आँखें भेंट में लेनी गईं। सुखराज की मा इस पर भी उनकी कृतज्ञ थी। उसने देवी के प्रस्थान की ख़ुशी में उधार लेकर गुलगुले और सोहारियाँ चढ़ाईं, अपने साथियों को लेकर देवी की पूजा के अवसर पर गाने गये। देवता ने अपना धर्म निबाहा था, उसने भी अपना धर्म निबाहना उचित समझा!

सुखराज और रधिया क्रमशः आठ और छः की अवस्था को पहुँच चुके थे। सुखराज का नाम लड़कों ने बदलकर 'सूरदास' कर दिया था। सब खेल में उसे चिढ़ाते, बनाते और उसपर धूल फेंकते। वह बेचारा अकेला बैठकर अपने उन दिनों की कल्पना करता, जब वह आँखोंवाला था, और उछल-उछलकर खेला करता था। इसे सोचकर वह उदास हो जाता। उसके हृदय की विवशता छटपटा उठती। वह दबी हुई ज़बान, और नैराश्यपूर्ण नेत्रों से, राधा की ओर देखता, मानो वह दया की भिक्षा माँग रहा हो। रधिया उसकी असहायावस्था पर दयार्द्र हो उठती, पर और लड़कों के डर से प्रकट में वह उससे कुछ न कहती। जब सब चले जाते तो वह उसके समीप पहुँचकर उसे प्यार करती और उसके कान में धीरे से कहती, "चलो सुखराज, हम लोग घर में खेलें। ये पाजी हम लोगों को यहाँ खेलने न देंगे।" वह हाथ पकड़कर उसे घर ले जाती। दोनों धूल का घरौंदा बनाते। घरौंदा बनाकर सुखराज पूछता, "क्यों रधिया, कैसा बना है?" वह कहती, "बहुत अच्छा।" सूरदास के मन में अपने घरौंदे को देखने की कैसी व्याकुलता होती थी, यह हम आँखवाले कैसे समझेंगे! पर जिसने अन्धे की निराशापूर्ण आँखें देखी हैं, वह कह सकता

है, कि उसके भीतर से एक खिसियाई हुई व्याकुल आत्मा बराबर इस लोक का साक्षात् करने का व्यर्थ प्रयत्न करती रहती है।

महामारी में सूरदास अपने पिता और माता दोनों को खो बैठा। मरना कैसा होता है, इसका दृश्य सूरदास नहीं देख सका। पर मृत्यु की एक भयानक कल्पना उसके भोले मन में अवश्य अंकित हो उठी। माता-पिता चले गये, केवल इतनी बात सूरदास के लिए सत्य थी, शेष सारी ज्यों-की-त्यों। संसार उसके लिए अन्धकारमय हो चुका था; अब भी वैसा ही था। सुख—उसे पता ही न था, क्या है। शारीरिक आवश्यकताएँ तक जिसकी पूरी न होती हों, वह भी भला किसी सुख की कल्पना कर सकता है!

अकेले सूरदास को अब जीवन-संग्राम की विकट समस्या हल करनी थी। पेट भरने के लिए उसे अब कुछ-न-कुछ करना पड़ता। वह अन्धा क्या करता। यहाँ तो इस आर्यों की पुण्यभूमि में आँखोंवाले तक को तो काम मिलता नहीं, बेकारी की समस्या वे तक तो सुलझा नहीं सके। सूरदास उदर-पोषण के लिए अपने भाई-बन्धुओं की स्त्रियों और बच्चों को प्रसन्न रखना सीखने लगा। यही दोनों दयालु होते हैं—मूर्ख भी।

माताओं की अनुपस्थिति में सूरदास मुँह बजाकर, भाँति-भाँति के पशु-पक्षियों की बोलियों की नक़ल कर, बच्चों का मनोरंजन करता। बच्चे उसके पीछे-पीछे लगे रहते। वह अन्धा, उनका 'लीडर' था। माताएँ उनके आग्रह पर सूरदास को अपने पेट काटकर कुछ खाने को दे देतीं। रधिया भी अपने घर से कभी-कभी कुछ बनाकर, छिपाकर, सूरदास को खिलाती। पर उसका यह छिपाना, उस अन्धे से नहीं छिपा था।

दोनों अब खेत में मजूरी करने जाते। सूरदास ने धीरे-धीरे आँखों की कमी, अन्य इंद्रियों की शक्ति में वृद्धि करके, पूरी कर ली थी। वह केवल

देख भर नहीं सकता था, पर उसे मार्ग में भटकते किसी ने न देखा। वह आसानी से बैलों के लिए चारा काट लेता, खेत काट लेता, कुएँ से पानी भर लाता। उसकी अन्धी आँखें, न देखती हुई भी, प्रातःकाल और संध्या का ज्ञान अच्छी तरह रखतीं।

रधिया के पिता के पास उसकी लड़की के ब्याह की बात चलती, पर वह अभी कुछ न बोलता। निर्धन की लड़की की शादी ही क्या। रधिया इसे सुनकर सहम जाती। एक दिन उसने सूरदास से बात चलाई। बोली, "सूरदास, एक बात कहूँ, किसी से कहोगे तो नहीं? दादा से लोग कह रहे थे कि रधिया अब सयानी हुई, उसकी मँगनी कर दो।" दोनों खेत में घास काट रहे थे। सूरदास ने छीली हुई घास को छकनी से पीटते हुए कहा, "हूँ, मुला एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगी?"

रधिया ने भोलेपन से कहा, "बुरा काहे को मानूँगी भैया!" सूरदास आकाश की ओर देखता हुआ, सकरुण हो बोला, "तुम्हारी सगाई हो जायगी तो मुझे भी अपनी ससुराल ले चलना। मैं वहाँ तुम्हारे घर का काम-काज करूँगा।" रधिया लज्जित हो गई। उसके चेहरे पर आई हुई लज्जा की तरंग सूरदास न देख सका। अच्छा ही हुआ।

सूरदास ने घास छीलते हुए पूछा, "तो नहीं मंजूर है हमारी बात, राधा? अच्छी बात है।" उसका हाथ क्षण भर रुक गया—न जाने क्यों रुक गया। इसी के साथ रधिया का भी हाथ रुका। उसने लपककर सूरदास के गले में बाँहें डाल दीं, और रोती हुई कहने लगी, "ऐसी बातें न कहो, सुखराज भैया! मुझे अच्छी नहीं लगतीं।" दोनों के गालों पर आँसुओं की दो बूँदें ढुलककर धूलि-धूसरित भूमि में लीन हो गईं, मानों इन दोनों ग्रामीणों के हृदयों में कोई सरस भाव उठा ही नहीं!

उस दिन से सूरदास ने इस विषय में कोई बात नहीं की।

सूरदास अब युवा हो चला था। पेट भर भोजन न मिलने पर भी प्रकृति ने उसके डीलडौल तथा शरीर में परिवर्तन उपस्थित करना आरम्भ कर दिया था। भूखे भारत में भी तो वसन्त आता है! राधा की ओर अब गाँव के लड़कों की आँखें अधिक उठतीं। जिधर से वह निकल जाती, उसी तरफ़ नवयुवकों में कुछ-न-कुछ कानाफूसी होने लगती। वह पूर्ण युवती तो नहीं हुई थी, कोई विशेष सौंदर्य भी उसमें नहीं था, पर कामुकता, जिसका दूसरा नाम प्रेम है, अन्धी होती है। वह मँडराती है हाड़ और मांस के ऊपर। रधिया का शरीर अवश्य कुछ सुगठित हो चला था, उसमें फुर्ती और स्वस्थता के चिह्न दिखाई पड़ते थे। इतना काफ़ी था, युवकों को उसके प्रति प्रेम जतलाने के लिए, अन्यथा निराश होकर उसके प्रति तरह-तरह की बातें उड़ाने के लिए।

टोले में राधा और सूरदास के विषय में धीरे-धीरे चर्चा आरम्भ हुई। पहले टोले के बेकार छोकरों ने आरम्भ किया, उनकी माताओं ने धीरे-धीरे खेत में, खलिहान में, कुएँ पर, किसी के घर आते-जाते समय, उसकी टीका-टिप्पणी की। बात फैलकर मरदों के कानों तक पहुँची। रधिया का पिता इससे वंचित न रहा। यह ठीक था कि वह सूरदास को किसी प्रकार दोषी नहीं मान सकता था; पर समाज का डर उस निर्धन-असहाय को भी था। हमारे समाज को हमारे पेट की चिन्ता नहीं, हमारे दुख-सुख की चिन्ता नहीं, हमारे भूत-भविष्य की परवा नहीं, पर उसे बड़ी चिन्ता रहती है—हमारी बहू-बेटियों की, हमारे धर्म-अधर्म की, हमारे परलोक की! हम चाहे भूखों मरें, मारे-मारे फिरें, पशुवत् रहें, पर हमारा समाज हमसे आशा करता है कि हम सच्चरित्र होंगे, सत्यवादी होंगे, धार्मिक होंगे, मोक्ष

के अधिकारी होंगे ! रधिया का पिता भी इस समाज के आतंक से परे न था। उसने बेटी की मँगनी करने का निश्चय कर लिया। पर मँगनी क्या केवल संकल्प करने ही से होती है ? संसार में रहकर कोई काम बिना पैसे के नहीं होता।

रधिया की मँगनी उसका पिता तय कर रहा था। सूरदास इससे बड़ा प्रसन्न था। वह सोचता, "मैं भी राधा के भावी घर जाऊँगा और वहाँ रहकर उन दोनों की सेवा करूँगा"। पर रधिया इस समाचार से अप्रसन्न थी। उसे न जाने क्यों, मँगनी की बात अच्छी न लगती। उसने अपने मन की बात तो किसी से कही नहीं, पर जब सूरदास उसके, भावी जीवन के कतिपय सुखों की कल्पना करके, उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करता, तो वह उस पर रुष्ट हो उठती और उसकी आँखों में आँसू भर आते। सूरदास इस पहेली को समझने में असमर्थ होता। उसे अपने भावी सुखों की असम्भवता का ध्यान हो उठता, तो वह कुछ दुखी अवश्य हो जाता। वह सोचता, मानो उसके भाग्य ने उसके लिए उसी गाँव में तिरस्कारपूर्ण जीवन व्यतीत करने की व्यवस्था की है। वह कुछ उदास हो जाता; पर भाग्य का विधान ऐसा ही समझकर फिर निश्चित होने की चेष्टा करता।

रधिया की मँगनी में कोई सन्देह नहीं रह गया था। पिता ने 'मालिक' से पेशगी ले रक्खी थी। धीरे-धीरे इसके सलाहगीरों की संख्या भी बढ़ने लगी। अब उसके दरवाज़े पर, उसके दो-एक भाई-बन्धु चिलम लेकर, उसे हर प्रकार की सहायता देने का वचन देने आने लगे। उसके टोले की स्त्रियाँ उससे अपनाने का भाव जोड़कर, उसे विवाह की तैयारी के विषय में मंत्रणा भी दे जाया करती थीं। उसके दूर-दूर के भूले हुए नातेदार भी अब उसकी सुध लेने लगे। पर रधिया की सुध लेनेवाला

कोई न था। वह सदा चिन्ता में डूबी रहा करती। उसकी चिन्ता का निराकरण केवल ईश्वर ही कर सकता था। मानो इस बार उसने सुन लिया था। एकाएक उसका पिता हाँफता हुआ दोपहर को खेत से लौटा। उसने एक साँस में दो हँडिया पानी पिया और दम-के-दम में हैज़े की गोद में लेट गया। रधिया घबरा उठी। उसने परमात्मा को पुकारा, टोलेवाले से सहायता की भीख माँगी, पर सब भाग खड़े हुए। इस बार उसकी विनती किसी ने न सुनी। उसका पिता विना उसकी मँगनी किये, इस लोक से चल बसा। चलते समय उसने सूरदास से केवल इतना कहा, "सूरदास, रधिया को देखना!"

सूरदास क्या देखता, उसकी अन्धी आँखों के सामने और भी अँधेरा छा गया। पर रधिया को मानो अब कुछ देखने-सुनने की आवश्यकता न थी। पिता का मरना उसे उतना न खला, जितना कि उसकी मँगनी का हो जाना उसे खलता। उसने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। अब वह अपने पैरों पर खड़ी हुई। उसमें न-जाने कहाँ की शक्ति आ गई। मेहनत-मजूरी में वह सबसे बढ़कर परिश्रमी निकली। गाँव के सभी लोग उसकी सचाई और स्वामिभक्ति से प्रसन्न रहते। सभी चाहते कि वह उनके खेत में काम करे। सूरदास उसके पीछे-पीछे लगा रहता; जो वह कहती, वही करता; जहाँ वह जाती, वहाँ जाता। दोनों ऐसे रहते, मानों स्त्री और पुरुष हों।

दुष्ट लोग कभी अपनी हरकत से बाज़ नहीं आते। पहले परिहास में सूरदास को लोग चिढ़ाने लगे, फिर ताने की ध्वनि में रधिया पर बौछार छोड़ने लगे। धीरे-धीरे दोनों के अपमान के इरादे से,लोग खुले आम दोनों को फटकारने लगे। बात यहाँ तक बढ़ी, कि ईर्षालु 'लोग' दोनों को हानि

पहुँचाने तक का साहस करने लगे। पर रधिया टस-से-मस न हुई। अब लोगों में से, अपने को वयोवृद्ध और अनुभवी समझनेवाले नर-नारी, रधिया को सलाह देते कि वह अन्धे के फेर में न पड़कर किसी के साथ 'घर-बैठौवा' कर ले। पर वह एक न सुनती।

सूरदास से यह बात छिपी नहीं रही। उसने एक दिन खेत की मेड़ पर भुने हुए मटर और मढ़ुए चबाते हुए, रधिया से कहा, "राधा बहन, लोग क्या कहते हैं? संसार बड़ा कच्चा है। तुम हमारे पीछे क्यों दुख सहती हो?" उसने प्याज़ की आँड़ी के दाँत से दो टुकड़े कर दिये, उसकी भावशून्य आँखों में पानी भर आया। राधा सिर नीचा किये चबेना चबा रही थी। उसके साथ काम करनेवाले मजूर और मजूरिनें खेत के दूसरे कोने पर बैठकर कानाफूसी कर रही थीं। उसने तिरछी निगाहों से उनकी हरकत देखी, एक बार लज्जित हुई, फिर आवेश में, सात्विक क्रोध के आवेश में, उसने कहा, "संसार कच्चा है तो रहे। हमें इसकी चिन्ता नहीं सूर भैया? दुख-सुख तो मानने से होता है। किसी के कहने-सुनने की मैं परवा नहीं करती। तुम को तो कोई कष्ट नहीं होता मेरे कारण?"

उसके शब्दों में दृढ़ता थी, सती का रोष था। उसके वाक्य खेत के दूसरे कोने में बैठे लोगों के कानों में अवश्य पड़े।

सूरदास कृतज्ञता की बाढ़ न रोक सका। उसकी फूटी आँखों से कृतज्ञता के आँसू बह निकले। वह क्या उत्तर देता, पर राधा ने सारी बातें समझ लीं। वह उसे तुरन्त साथ ले, घर की ओर चल पड़ी। लोगों ने पुकारा, "अरे! कहाँ चली? ओ रधिया! ओ सूरदास! हम लोग काम लगाने जा रहे हैं!" दोनों ने मानों सुना ही नहीं।

❀ ❀ ❀ ❀

❀ ❀ ❀ ❀

सन्ध्या समय जब मजूरी करके लोग अपने टोले में लौटे तो नीम के पेड़ के नीचे बैठकर, वे राधा की बेहयाई पर व्यवस्था देने लगे। इसी बीच किसी ने ख़बर दी, कि दोनों की झोपड़ी सूनी पड़ी है। लोगों ने जाकर देखा तो बात सच निकली। कहीं कोई सामान न दिखाई पड़ा, जिससे निश्चय होता, कि दोनों सदा के लिए उसे नहीं छोड़ गये हैं।

अब टोले के लोग बेखटक उनके आचरण की आलोचना करने बैठे। चिलम-पर-चिलम चढ़ने लगी। चौधरी भी अपना पुराना नारियल लेकर मचिया पर आ डँटा। सब लोग एक-एक कर राधा की बातें करते और इस बात का विश्वास दिलाते कि हो-न-हो दोनों में अनुचित सम्बन्ध अवश्य था। कौन सफ़ाई देता? अन्त में एक मत हो लोगों ने कहा—"है ज़रूर कोई बात दोनों में।" बूढे चौधरी ने भी घृणा-भरे शब्दों में उठते हुए कह डाला, "मारो ससुरी को! वह भी अन्धी थी!"

उसके भाई-बन्धुओं को उसके विषय में निर्णय देने का अधिकार था, पर हम किस नाते से कहें, कि वह अन्धी थी। क्या सचमुच—वह अन्धी थी?

"रँग गुलाबी बादामी रँग!"

ऊपर के कमरे में जब कभी कुछ लिखने-पढ़ने बैठता था, सबेरे सन्ध्या अक्सर मेरे कानों में "रँग—गुलाबी—बादामी—रँग !" की करुण पुकार सुनाई पड़ जाती थी। यह पुकार किसी फेरीवाले की तो थी ही, पर उसकी ध्वनि ऐसी करुण, ऐसी दीन और ऐसी रोहाँसी थी, कि कानों में पड़ते ही एक बार हृदय को विचलित कर देती थी। जी में यही आता था, कि चलकर उसका रहस्य पूछूँ ! पता नहीं, इस फेरीवाले के शब्दों में कौन-सी बिपत की मारी आत्मा का करुण क्रंदन छिपा हो। जी में तो आता था, पर आलस्य वश कभी ऊपर से नीचे आकर, उसे पुकारकर पूछने का कष्ट नहीं उठाया। जाने कितने गलियों में अपना दुखड़ा लिये आते-जाते रहते हैं, हम किस-किस से पूछते फिरते हैं ?

प्रात:काल का समय था। जाड़े का सूर्य बादलों के आवरण को हटाकर ऊँचे-ऊँचे मकानों के शिखर से झाँककर, चबूतरे पर अपनी सुनहली किरणें बिछा रहा था। इस स्वर्ण अवसर पर धूप खाने के लिए नौकर बच्चों को गोद में लेकर जा बैठे थे। मैं भी किसी काम से उधर जा निकला। लड़कों ने देखा, तो चिपक गये। लाख कहने पर भी वे छोड़ते ही न थे। लड़की सबसे शैतान है; बाबूजी को पा जाती है, तो जल्दी पिण्ड नहीं छोड़ती।

मैंने बहुत समझाया, "बेटी, मुझे दफ़्तर की देरी हो रही है। अभी बहुत-सा काम करना है।" पर उस बालिका के हृदय में दफ्तर के "अफ़सरों" की भाँति इस पर विचार करने के लिए स्थान न था। वह क्लर्कों की परेशानी क्या समझती! पहले वह पीठ पर चढ़ी, फिर उचककर कन्धों पर जा पहुँची। नौकर हाथ पसारे चुमकार रहा था, प्रलोभन दे रहा था; पर सिर पर चढ़कर भूत ऐसे थोड़े ही उतरता है। वह मुकर रही थी, मचल रही थी, हँस रही थी। अपनी शक्ति पर, अपनी चतुराई पर वह आनन्दित हो रही थी। मैं भी बेबस था। क्रोध उठ रहा था, झल्लाहट जग रही थी; पर उसकी हँसी, उसकी प्रसन्नता के सामने वे सब लाचार थे। सोच रहा था, किस उपाय से पीछा छुड़ाऊँ। रह-रहकर दफ्तर की याद आती, तो उतावली में उसे गली में पटक देने की इच्छा होती। इसी बीच कानों में "रँग-गु—ला—बी—बा—दा—मी रँग!" की आवाज़ सुनाई पड़ी। देखा, तो गली के मोड़ से एक जीर्ण-शीर्ण मनुष्य की मलिन वस्त्रों में लिपटी हुई आकृति लाठी टेकती हुई आ रही थी। वह क्षणभर रुकी—मानो दम लेने के लिए; उसकी पीठ कुछ ऊँची हुई, सिर निचे झुका, फिर कानों में आवाज़ सुनाई पड़ी, रँग—गु—ला—बी—बा—दा—मी रँग!"

मुझे बहाना मिल गया, बच्चों से पिण्ड छुड़ाने के लिए। इससे बहस नहीं, कि वह रँग बेच रहा था। कोई फेरीवाला हो, कुछ बेचता हो, बच्चों को सबसे कुछ-न-कुछ लेना रहता है। वे सबको पुकारते रहते हैं। संसार का अनुभव मानो वे इसी प्रकार करते हों।

बच्चे, उसकी पुकार सुन, उत्सुक हो उठे। लड़की ने अपनी तुतली भाषा में पुकारा, "ओ-लंग-वाले!" मुझे मानो सहारा मिल गया। मैंने भी हाँक दी, इसका ध्यान ही न रहा कि रँग बच्चों के किस काम का? फेरी-वाला मुड़ा, धीरे-धीरे हमारे मकान की ओर बढ़ा—लाठी टेकता हुआ, मन्द गति से, उदासीन भाव से। मैं उसकी ओर निर्विचार देख रहा था। मेरी दृष्टि उसके चिथड़ों, उसकी पीठ पर लटकती हुई टूटी टीन की सन्दूक, उसकी मैली लुंगी और नंगे पैरों पर पड़ी। सर्दी से सिहरता हुआ, वह आ रहा था—मानो दीनता, दरिद्रता, दुःख की मारी मेरी ओर बढ़ रही हो। वह पास पहुँच रहा था। बच्चे प्रसन्नता से ताली पीट रहे थे, मानो उन्हें मिठाई या खिलौने मिलनेवाले हों। मैंने गौर से देखा, रँगवाले के शरीर पर एक फटा कोट था, उसके छिद्रों से दरी की जाकेट दिखाई पड़ती थी। वह बाइसिकिल के पुराने टायर की पेटी बनाये, पीठ पर टीन का टूटा जँग खाया हुआ बकस लटकाये था। वह झुककर चलता था, सँभल कर, फूँक-फूँककर पाँव धरता हुआ, मानो उसे गिर पड़ने की आशंका हो।

वह पास पहुँच गया। मैं सोच रहा था, 'इससे क्या लूँगा?" लड़की से पूछा, "तू रँग लेकर क्या करेगी, यह खाने की चीज़ नहीं।" वह बोली, "मैं अपनी गुलियों की साली लँगूँगी।" मुझे बहस की फुर्सत न थी। मैं तो किसी बहाने उससे जान छुड़ाना चाहता था, दफ़्तर की देर हो

रही थी, सिर पर काम लदा पड़ा था। मैंने तुरन्त उससे कहा, "अजी, एक पैसे का रँग दे दो। रँगवाला गली में बैठ गया। उसने बक्स उतारा, उसे टोता हुआ खोलने लगा। मैंने कुछ व्यंग से पूछा, "क्यों तुम्हें दिखाई पड़ता है ?" वह बोला, "नहीं बाबूजी !" मैंने उसके उत्तर की सरलता से अनुमान किया, मानो उसने मेरी उपेक्षा में यह उत्तर दिया है। मुझे लज्जा आ गई। मैंने कहा, "अच्छा, जल्दी करो।" लड़की बोली, "मैं गुलाबी-बादामी लँग लूँगी।।" वह निकालने लगा। वह सिर नीचे किये डिब्बों को टोकर रँग निकाल रहा था। मैं उसकी चेष्टा देख मन-ही-मन सोच रहा था, "यह सचमुच अन्धा है क्या ?" पुड़िया लड़की के हाथ में दे, उसने पैसों के लिये हाथ पसारा। मैंने पैसा चबूतरे से फेंक दिया। पैसा उसके हाथ में न पहुँच, गली की फर्श पर गिरकर, झंझनाकर, लुढ़ककर, एक कोने में चुप हो गया। वह हतबुद्धि खड़ा था।

मैंने कहा, "उठा लो, वह सामने नाली के पास, बाईं ओर !" वह खड़ा नीची निगाहों से, मानो ज्योति-हीन आँखों से इधर-उधर देख रहा था। मैंने झल्लाहट से कहा, "अजी—वह सामने—बाईं तरफ़—नाली के पास—" मेरे शब्दों में उपहास की ध्वनि थी। उसने दीनता से उत्तर दिया, "बाबूजी, मैं अन्धा हूँ, मेहरबानी करके ज़रा उठा दीजिए।" मैंने उसकी आँखों की ओर आँखें उठाईं। देखकर बड़ा पछतावा हुआ। स्वयं गन्दी नाली के पास से पैसा उठाकर उसके हाथ में देते हुए, मैंने कहा, "भाई, माफ़ करना। मैं समझता था तुम्हें दिखाई पड़ता है।" अन्धे का क्या कोई मज़ाक उड़ाता। मुझे अपने भ्रम पर दुःख हो रहा था। मैंने उसका प्रतिकार करने के निमित्त सहानुभूति से, आश्चर्य प्रकट करते हुए, पूछा, "क्यों जी, तुम रँग पहचान लेते हो ?" रँगवाला मानो

प्रसन्न हो उठा, उसके सूखे चेहरे पर हँसी की रेखा झलक उठी। प्रशंसा किस पर असर नहीं करती। उसने अपनी कीचड़ भरी आँखों को मुलकाते हुए कहा, "हाँ बाबूजी, आप लोगों की दुआ।" मुझे जाने क्यों कुतूहल हो रहा था। प्रश्नों का सिलसिला लग गया। उसे भी मानो कोई जल्दी न थी।

मैं—"तुम्हें रँग की पहचान कैसे होती है?"

वह—"पता नहीं; पर कभी किसी को ग़लत रँग नहीं दिया।"

मैं—"अच्छा, अपने बकस में तुम डिब्बों में अपने हाथ रँग रखते हो? और बाज़ार से लाते समय तुमको कैसे पता चलता है कि किसमें कौन रँग है?"

वह—"बाबूजी, यह सब न पूछिए। मैं स्वयं नहीं जानता; पर अभी तक मुझ से कभी कोई ग़लती नहीं हुई।"

मैं—"तुम्हें कितने दिनों से यह काम करना पड़ रहा है?"

वह—"बाबूजी, आज से पूरे १२ वर्ष हुए। जब मेरी आँखें अन्धी हुईं तब से यही काम करता हूँ।"

मैं—"इसके पहले तुम क्या करते थे?"

वह—"बस, अब आगे न पूछिए बाबूजी। वह सब न पूछिए।" यह कहकर मानो वह खिसिया सा गया। मेरा कुतूहल मानो प्रेरणा कर रहा था। मैंने पूछा, "आख़िर क्या बात है, बतलाते क्यों नहीं।" वह जितना ही हीलाहवाला करता, मैं उतना ही हठ करने लगा। अन्त में उसने कहा, "बाबूजी, आज तक किसी से मैंने अपनी राम-कहानी न कही; पर आप हठ करते हैं, तो सुनिए। पर हँसिएगा नहीं, इसी डर से मैंने किसी से अपना राज़ नहीं बतलाया। कहने से लाभ ही क्या था। सिर्फ अपनी

हँसाई होती।"

वह सकुचाते हुए, खिसियाते हुए, कहने लगा। उसके मुख के भाव से उसकी अन्धकारमय आँखों से बड़ी करुणा, बड़ी उदासीनता का आभास मिल रहा था। फिर भी उसने हिचकते हुए कहना आरम्भ किया; मानो दिल को सँभालकर, अपनी सारी शक्ति को समेटकर, वह कहने लगा, "बाबूजी, मैंने भी कभी अच्छे दिन देखे हैं। अच्छे ही नहीं, बहुत अच्छे। किसी समय मैं चार-पाँच सौ रुपये महीने कमाता था। जाने कितना कमाया, कितना उड़ाया। अब टुकड़ों-टुकड़ों का मोहताज हूँ। मुझे अब जीने की लालसा नहीं; पर एक लड़की है उसी के लिए जी रहा हूँ। "मैंने पूछा, "यह सब कैसे हुआ?" वह फिर हिचकने लगा। कहने लगा, "बाबूजी, जाने दीजिए। कहने में दु:ख होना है तो उसे कहकर क्या करूँगा।" मैंने आग्रह किया, "भाई, दुख कहने-सुनने ही से हलका होता है। मैं विना तुम्हारी कहानी सुने तुम्हें जाने नहीं दूँगा।" इस आग्रह में छिपी आत्मीयता से वह विचलित हो उठा, उसकी ज्योतिहीन आँखों से आँसू बहकर, उसके सूखे गालों को भिगोने लगे। उसने अपने को सँभाला और फिर कहने लगा, "बाबूजी, मैं इसी नगर में ठेकेदारी करता था। मेरे बराबर के ठेकेदार उस समय दो-ही-एक थे। पहले मैं राज का काम करता था। धीरे-धीरे मैंने ठेका लेना आरम्भ किया। समय अच्छा था—भाग्य भी अच्छे थे। दिनों दिन मुझे लाभ होने लगा। उन दिनों यहाँ नुमाइश होनेवाली थी। चारों ओर से मज़दूरों की माँग थी। इमारतें बन रही थीं। समय कम था, काम था बहुत। मन माना रेट मिलता था। मैंने खूब कमाया; हजारों का आदमी बन बैठा। उस समय मेरी उम्र बीस-बाइस साल की थी। घर पर कोई नहीं था। मा-बाप लड़कपन में मर चुके

थे, अकेला इतना बड़ा हुआ। अपने हाथों पैसेवाला हुआ। आप जानते ही हैं, पैसा आता है, तो उसके साथ और कितने ज़वाल भी आते हैं। जवानी का आलम था। पैसा भी पास में था। घर पर कोई रोकनेवाला नहीं—फिर क्या! मेरे मित्रों की संख्या बढ़ने लगी। एक-दो थोड़े ही थे जिनको गिना सकूँ। दिन भर घेरे रहते थे। सुबह-शाम जब देखो, मेरे घर पर दोस्तों का जमघट रहता था। काम से फ़ुरसत मिली, तो नाच-रँग, खाना-पीना, हँसी-मज़ाक, ताश-गंजीफ़ा सभी होता था।

"यों बहुत से दोस्त थे। सभी हम-उम्र। देखने में जान देनेवाले; पर उनमें से एक से मेरी बहुत पटती थी। वह मेरी हर एक बातों में राय देता और कभी-कभी मुझे अपने कार-बार पर ध्यान रखने की सलाह देता। जब कभी हम दोनों अकेले में होते, वह मुझे अपनापे के भाव से उलहना देता और मित्रों की चालबाज़ी के प्रति चेतावनी देता। मैं यद्यपि यह सब सुनकर केवल हँस देता था; पर उसकी बातें धीरे-धीरे मन में घर कर रही थीं। अन्त में मुझे निश्चय हो गया कि यही मेरा मित्र और मेरा शुभचिन्तक है। फिर तो मैं उससे अपनी कोई बात न छिपाता। हम दोनों ऐसे रहते, मानो 'एक जान दो कालिब।' बाबूजी, जवानी हो, रुपया हो, घर पर कोई रोकनेवाला न हो, तो आप समझ सकते हैं, लोग क्या करते हैं? मैं भी उसी के फेर में रहने लगा। चौक में एक तवायफ़ रहती थी। हम दोनों अक्सर उसके घर मुजरा सुनने जाया करते थे। उसकी एक लड़की थी, जो केवल घर ही पर गाती-बजाती थी। हम दोनों की आँखें उस पर पड़ीं। दोनों रीझ गये। उससे मिलने-जुलने लगे। वह भी धीरे-धीरे मेरी ओर आकर्षित होने लगी। पहले हम दोनों का भाव उसकी ओर कुछ और था; पर धीरे-धीरे मैं उसके रूप-गुण पर मोहित होने लगा। मेरे

मन में आता, कि उसे वेश्या की भाँति न रखकर यदि उससे विवाह कर लूँ, तो मैं भी सुखी रहूँगा और वह भी पाप के पेशे से बच जायगी। मैंने बहुत दिनों तक अपना यह भाव गुप्त रखा। मैं उसके यहाँ जाता, उसके गाने सुनता, उसके पास उठता-बैठता। मेरा मित्र भी साथ रहता था; पर अब मेरे और उसके भाव में अन्तर-सा हो गया था। वह उसे वेश्या के रूप में देखता। मैं उसमें अपनी भावी पत्नी की पवित्र मूर्ति का स्वप्न देखता। मुझे अब अपने मित्र का आना-जाना खटकने लगा; पर वह मेरे पीछे लगा रहता। मेरी हिम्मत न होती थी कि उससे मन का हाल साफ़-साफ़ कह दूँ। यह उलझन कुछ दिनों तक रही। अन्त में, मानो मेरा मित्र मेरे दिल का भाव भाँप गया, या जाने कैसे क्या हुआ, वह मेरे घर कम आने लगा। मुझे पहले तो उस पर प्रसन्नता हुई, फिर कुछ भय होने लगा।

"एक दिन मैं 'मुन्नी' के यहाँ अकेले पहुँचा। यही उस लड़की का नाम था। मुन्नी देखते ही प्रसन्न हो गई। उसने पूछा, "आजकल तुम्हारे दोस्त क्या तुमसे खफ़ा हो गये हैं?" मैंने चौंककर कहा, "नहीं तो, मुझे तो इधर कई दिनों से नहीं मिले, पता नहीं उन्हें क्या हुआ है। नाराज़ होने का मैंने तो उन्हें कोई मौक़ा दिया नहीं।" वह हँसने लगी। मैं कुछ समझ न सका। उसकी हँसी मेरे कानों में पड़ रही थी। मैं एकटक उसके चेहरे की सुन्दरता देख रहा था। आज उसका रूप बड़ा आकर्षक जान पड़ता था। वह बोली, "क्योंजी, मुझसे छिपाते हो? वह तो अभी आये थे। कहते थे, तुम्हें उनका मेरे यहाँ आना अच्छा नहीं लगता।" मैं अवाक् रह गया। मुझे ईर्ष्या भी हो रही थी। मैंने कहा, "तुम उसपर फिदा हो, तो मैं आज से तुम्हारी ड्योढ़ी न लाँघूँगा।" मैं चलने को उद्यत

हो गया। उसने लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया। उसका चेहरा उतर गया था। वह उदास होकर कहने लगी, "मैंने तो मज़ाक किया था। तुम इतने पर रूठ गये। मैं उसपर फ़िदा हो सकती हूँ? तुम्हें यह यक़ीन है? मुझे यह सुनकर बड़ा दुःख हो रहा है।" वह सिसककर रोने लगी। मुझे अपने आचरण पर दुःख, पर इसके परिणाम पर प्रसन्नता हो रही थी। मैंने आश्वासन देते हुए कहा, "तो इसमें रोने की क्या बात थी। मैंने भी तो हँसी में यह बात कही थी। तुम्हें पता नहीं; मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ। मैं कभी तुम्हारा दिल दुखाने की धृष्टता कर सकता हूँ?" उसने मेरे कन्धे पर सिर टेक दिया। मेरा मलमल का कुरता उसके आँसुओं से भीग गया। उसे अपने पास बैठाते हुए मैंने पूछा, "क्यों मुन्नी, तुम्हारे मन में मेरे लिए कुछ मोहब्बत है?" उसने मेरी आँखों में गौर से देखते हुए दृढ़ता से कहा, "तुम यह सवाल मुझसे क्यों करते हो, अपने दिल से क्यों नहीं पूछते?" मैं क्या कहता, पर मैंने कहा, "यदि यही है, तो तुम मुझसे निकाह क्यों नहीं कर लेती।" विवाह का शब्द सुन मानो वह मर्माहत हो गई, उसने तिनक कर कहा, "निकाह! हम लोगों से कौन निकाह करेगा? है किसी में हिम्मत, जो समाज का उपहास अपने ऊपर ले सके!"

"मुझे बहुत दिनों बाद अवसर मिला था। मैं उसके लिए अपने को पहले तैयार कर रहा था। मैंने सीना ठोंककर कहा, "मैं हिम्मत करता हूँ। मेरा कोई क्या कर सकता है। बोलो, तुम क्या कहती हो? कल ही निकाह करता हूँ।" वह आश्चर्य से मेरी ओर देख रही थी। मानो मैं पागल की तरह बातें कर रहा था। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर दबाते हुए पूछा, "बोलती क्यों नहीं? बोलो क्या कहती हो?" वह असमंजस में पड़ गई। बहुत पूछने पर उसने कहा, "मैं अपने आपकी मालिक

थोड़े ही हूँ। अम्मा से पूछिए।" मैंने कुछ कहना उचित न समझा। उस दिन घर लौटा, तो कुछ उदास था। पता नहीं क्यों?

"मुन्नी के यहाँ आना-जाना तो कम कर दिया, पर उसे देखने की बड़ी अभिलाषा होती। अब मेरा मित्र फिर मेरे यहाँ आने-जाने लगा। मैंने उससे अपने दिल की बात न कही। वह मुझे मुन्नी के यहाँ चलने को उसकाता; पर मैं उत्तर देता, "वहाँ जाकर मैं अपने को बदनाम नहीं करूँगा। यदि उसे मेरी बड़ी मोहब्बत है, तो वह मुझसे शादी कर सकती है। तुम्हीं सोचो, अविवाहित के लिए इस प्रकार आना-जाना ठीक है, खास कर जब किसी से मोहब्बत हो जाय?" मेरे दोस्त ने इसपर उत्तर दिया, "तुम इसी के लिए परेशान हो, चलो मैं तुम्हारे मन की बात कराये देता हूँ।" मैंने आशा, पर सन्देह से पूछा, "क्यों, क्या तुम्हारे बस की बात है, उसकी मा राज़ी होगी तब न।" उसने कहकहा मारकर हँस दिया, मानो मैं लड़कों की-सी बातें कर रहा था। मेरी पीठ ठोकते हुए उसने कहा, "अजी कुछ खर्च करने के लिए तैयार रहो, वह क्या उसकी नानी मानने को तैयार हो जाय।" मुझे मानो तिनके का सहारा मिल गया। मैंने प्रसन्नता से कहा, "रुपया, मैं जितना कहो दे दूँ; पर अगर तुम इस काम को करा सको।" वह राज़ी हो गया, उसने सारे प्रबन्ध किये। मैंने रुपया दिया। उसने मेरा विवाह मुन्नी से करा दिया। इस खुशी में दावतें हुईं, नाच-खेल सभी हुआ। मैं तो फूला नहीं समाता था। घर में मानो चाँद का टुकड़ा ले आया था। अब मुझे मित्रों के उपहास का डर न था और न कुछ पड़ी थी समाज के चीत्कार और हुल-हपाड़े की। मैं सोचता था, "अपना कमाना-खाना है, किसी से लेना-देना नहीं। फिर क्यों किसी की परवा करते फिरना।" मित्र तो मानो मेरे घर का दूसरा मालिक हो

रहा था, मुझे अब उसपर पूरा विश्वास था; मेरी स्त्री उसे मानती थी। उसका उपकार हम कैसे भूल सकते थे!

"मैं आनन्द से दिन बिताता था। मुझे न ईर्ष्या थी, न चिन्ता। हम सब आनन्द से रहते थे। मेरा कार-बार अच्छी तरह चल रहा था। इसी बीच मेरे एक लड़की हुई। हम तीनों आनन्द से फूले न समाये। बड़ी धूम-धाम से मैंने मित्रों को दावतें दीं, खुशियाँ मनाईं। लड़की दो बरसकी हुई। हम सब अब पूरे गृहस्थ से लगने लगे। मेरा मित्र मेरे आग्रह करने पर भी अपनी शादी करने पर राजी न होता था। मैं उसे बार-बार समझाता पर मेरी स्त्री मेरी इस बात पर चुप मार जाती। यह मुझे कुछ खटकता था; मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया। आखिर ध्यान देने की बात ही क्या थी।

"मेरा कार-बार बाबूजी, केवल नगर में ही नहीं था, मुझे बाहर भी ठेके का काम मिलता था। मैं अपने काम पर अक्सर जाता और दो-एक दिन में लौटकर आ जाता था। लड़की को मैं बहुत प्यार करता था। धीरे-धीरे वह इतनी परच गई थी कि मुझे छोड़ती ही न थी। वह अब चार साल की हो गई थी। अब वह सदा मेरे साथ ही रहती। जहाँ जाता, उसे लिये जाता।"

"अपना काम देखने मुझे नगर से बाहर जाना पड़ा। मैं लड़की को साथ लेता गया। वहाँ कुछ अड़चनें ऐसी पड़ गईं, कि मुझे करीब एक महीने तक रुक जाना पड़ा। बखेड़ों में इतना उलझ गया था, कि घर की सुध ही नहीं रही। मैं नित्य सोचता था कि आज चलूँगा; पर न चल सकता था। आख़िर मैं लौटा करीब एक महीने बाद। पहुँचकर घर पर देखा, तो मेरा मित्र मेरी स्त्री को लेकर न-जाने कहाँ चला गया था। घर पर ताला पड़ा था। नौकर को पता नहीं कि वे कहाँ गये थे। मैंने उनकी खोज-खबर न

ली। क्या खोज-खबर लेता ? वह मेरा मित्र था और वह मेरी स्त्री थी। शोर-गुल मचाता तो अपनी ही बदनामी होती। लोगों को समझा दिया, "वे लोग किसी सम्बन्धी के यहाँ गये हैं। कुछ दिनों में आ जावेंगे।" लोग चुप हो गये; पर मैं नित्य उनका आसरा देखता। मन-ही-मन लज्जा से मरा जाता। बाबूजी ! मेरी बुद्धि मारी गई थी, मुझे न क्रोध आता था, न बदला लेने की इच्छा होती थी। मैं यही सोचता, ख़ैर, जो उन सबों ने किया ठीक किया; पर अब तो लौट आवें। पर वे न लौटे। महीनों बीत गये, मैंने भी उनके लौटने की आशा छोड़ दी। फिर मेरा जी कारबार में न लगता। धीरे-धीरे सब शिथिल हो गया। मुझे अब करना ही क्या था, जो कुछ मिल जाता, खाने भर को काफी था। अब मुझे किसी काम में दिलचस्पी नहीं रह गई थी।

"कुछ दिनों बाद मुझे एक पत्र मिला। उसमें भेजनेवाले का पता न था, पर डाक की मोहर कलकत्ते की थी। वह मेरे मित्र का पत्र था। उसने लिखा था, बाबूजी, मेरी स्त्री अपनी लड़की को अपने पास रखना चाहती है। उसने यह भी लिखा था, कि वह लड़की मेरी नहीं थी; वरन् उसकी लड़की थी। उसने यह भी लिखा था, कि कुछ दिन बाद वे उसे लेने आवेंगे। मैंने पत्र पढ़ा। पढ़कर रख दिया। मेरे मन में कोई बात उठती ही न थी। कभी मैं सोचता, वह मेरी स्त्री है मेरा उसपर अधिकार है। पर फिर मैं सोचता, जब उसने मेरे प्रेम को ठुकरा दिया, तो विवाह का बन्धन उसे कब तक बाँध सकता है। मैं उसे जबर्दस्ती अपने घर में रखकर क्या करूँगा। पर बाबूजी, उसके प्रति मुझे किसी प्रकार का क्रोध नहीं आया, उसे मैं बहुत चाहता था। उसकी तस्वीर मेरी आँखों के सामने फिरने लगी। मैं रात-दिन उसकी याद कर रोता रहता। रोते-रोते मेरी

आँखों ने जवाब दे दिया। मैं उन्हें खो बैठा ! पर मेरा रोना न छूटा।"

बूढ़े को आँखों से आँसू बह निकले। मैंने कहा, "क्यों, तुम मर्द हो, औरतों के लिए इतना दुःख करते हो, ये किसी की होती हैं ?"

उसने कहा, "बाबूजी, न सही, हमें तो अपना धर्म निबाहना मुनासिब है। मैंने उससे प्रेम किया था, उसे कैसे भुला देता, यह मेरे बस की बात भी नहीं है। प्रेम प्रेम के लिए होता, बदले के लिए नहीं। वह मेरे प्रेम का बदला नहीं देती, न दे ; पर मैं उससे प्रेम करता था, अब भी करूँगा, मरते दम तक करूँगा।"

मैंने विषय परिवर्तन की इच्छा से पूछा, "और वे दोनों फिर आये, लड़की को लेने ?"

वह रँगवाला बोला, "हाँ बाबूजी, वे दोनों आये, पूरे सालभर बाद। उनका रुपया-पैसा सब ख़तम हो गया था। जो कुछ वे घर से ले गये थे, वह सब ख़र्च कर चुके थे। अब वे फटी हालत में थे। मुझे दया आ गई, मैंने उन्हें अपना घर दे दिया। घर का सब सामान दे दिया। जिसमें वे सुख-आनन्द से रह सकें। मेरे दो मकान थे। छोटा केराये पर था। दूसरा बड़ा था, जिसमें हम रहते थे। मैं अपनी लड़की को लेकर छोटे मकान में चला गया। वे दोनों बड़े में रहने लगे। मैंने अपने मित्र को अपना सारा कार-बार सिपुर्द कर दिया। वह उसे सँभालने लगा।"

मैंने पूछा, "हाँ, तो वह लड़की तुमने उसे नहीं दी ?"

आँखों में आँसू भरकर वह कहने लगा, "बाबूजी, उसकी यही एक इच्छा मैं पूरी न कर सका। मुझे इसका दुःख है; पर लाचार था,

लड़की मेरे बिना नहीं रहती थी और मैं उसे देकर मुन्नी से सदा के लिए सम्बन्ध तोड़ना नहीं चाहता था।"

मैंने कहा, "तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आई, रँगवाले।"

वह हँस पड़ा, "बाबूजी, यह ऐसी ही बात है। मुझे खुद समझ में नहीं आई, कि मैंने क्यों उस लड़की को अपने पास रक्खा। बाबूजी, सीधी सी बात है। मेरे मन में यह बात उठी कि मुन्नी नहीं है, न सही; पर उसकी यादगार यह लड़की तो है, उसे क्यों अपने हाथों से अलग करते हो। इसी से मैंने उसे लाख कहने पर भी नहीं दिया।"

मैंने कहा, "अजी भले मानस, वह लड़की भी तो तुम्हारी नहीं थी, उसे तो तुम्हें अपना कलंक समझना चाहिए था।"

वह हँसने लगा, मानो मैंने पागलपन की-सी बात कही थी। वह कुछ झेंपता हुआ बोला, "बाबूजी, मैं मानता हूँ; पर जरा सोचिए तो, मेरी लड़की न सही, मुन्नी की तो लड़की थी। मैं तो मुन्नी से प्रेम करता था। उसकी चीज़ को मैं कलंक समझता ? वाह, आप भी क्या कहते हैं।"

वह हँसने लगा। उसकी भाव-भंगी ऐसी हो गई, मानो कोई विक्षिप्त अपनी ऊटपटाँग बातों पर हँसने वाले लोगों को उपहास की दृष्टि से देखता हो।

मैंने कुछ कहना उचित न समझा; पर सोचने लगा, "यह भी विचित्र पुरुष है।"

वह हँस रहा था।

मेरी गम्भीर मुद्रा पर गम्भीर हो, अपना सामान समेटता हुआ वह बोला, "चलता हूँ बाबूजी ! देर हुई। इसी से मैं कभी अपनी बात किसी से नहीं कहता। लोग जाने चुपचाप क्या

सोचने लगते हैं।"

उस अन्धे रँगवाले ने अपनी ज्योतिहीन आँखों से मेरी ओर देखा और 'सलाम' कर चलने को तत्पर हुआ। मैंने देखा, उसका चेहरा खिसिआया हुआ था, मानो उसने अपनी कहानी सुनाकर कोई भारी गलती कर डाली हो।

वह आगे बढ़कर गली से मुड़ गया। उसने आवाज दी—

"रँग गु—ला—बी—बा—दा—मी रँग।"

हस्त-लिखित ग्रंथों की खोज

काशी-म्युनिसिपल म्यूज़ियम में जब से प्राचीन प्रतियों के रखने का प्रबन्ध हुआ, तब से हमारे पाठकजी सदा हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज में परीशान नज़र आने लगे हैं। जब देखिए, उसी की चर्चा, उसी की बात-चीत, उसी की धुन। नित्य संध्या समय गुदड़ी बाज़ार में पहुँचकर कबाड़ियों की दूकानों पर पुरानी किताबों की ढेर की छान-बीन करना, रद्दी पत्रिकाओं में हस्त-लिखित प्रतियों की खोज करना मानो उनका नित्यकर्म हो गया है। एक दिन एक कबाड़ी कहीं से बहुत सी रद्दी ख़रीद लाया। पाठकजी पहुँचे तो उसने रद्दी की ढेर की ओर उँगली उठाकर कहा, "देखिए महाराज! शायद उनमें कोई आपके मतलब की चीज़ निकल आये।" पाठकजी

प्रसन्नता से उस ढेर पर टूट पड़े और लगे उसे बितुनने। उनका दिल हर्ष और उत्कण्ठा से उछल रहा था। उनके हाथ-पाँव काम न देते थे। एक किताब उठाते, दूसरी उठाते, रह-रहकर सोचते, "कहीं कोई प्राचीन प्रति न दिखाई पड़ जाय, कहीं 'चन्द' के हाथ का 'रासो' मिल जाय, तो क्या कहना! बस एक बार हिन्दी-साहित्य में धूम मचा दूँ। 'सूर' की हस्त-लिपि का नमूना पा जाऊँ, तो बस म्यूज़ियम की महिमा आसमान पर पहुँचा दूँ।" सैकड़ों विचार उनके सिर में चक्कर खाने लगते थे। हिन्दी का महान् उपकारक, प्रचारक, प्रेमी, संरक्षक और जाने क्या क्या एक दम बन जाने की कल्पना उनके मन में जग उठती थी। उसी के आवेश में वे अपनी पगड़ी सँभालते हुए, झुके-झुके, पुस्तकों, पत्रों, कापियों, रिपोर्टों आदि के ढेर की परीक्षा करने लगते थे। कबाड़ी उनकी ओर से निश्चित हो अपने ग्राहकों से छोटी-मोटी चीज़ों का सौदा कर रहा था।

पाठकजी अपनी धुन में थे। सहसा दो देहाती उनके निकट आकर कुछ कागज़-पत्र उलटने लगे। वे बड़ी निर्दयता से एक पत्रिका उठाते, उसे अपने मतलब की न पाकर एक ओर धूल में फेंक देते। यह देख पाठकजी एकदम बिगड़ उठे। बोले, "बड़े गँवार हो। इस पत्रिका को इस प्रकार फेंक रहे हो। कुछ पता भी है? यह बड़े महत्त्व की पत्रिका है। किसी समय इसकी एक-एक प्रति के लिए हज़ारों देने पड़ेंगे।" दोनों देहातियों में एक कुछ सयाना जान पड़ता था। उसके सिर पर गाँधी टोपी थी, शरीर पर खद्दर का कुरता। वह मुस्करा कर आश्चर्य प्रकट करता हुआ बोला, "हाँ, बड़े महत्त्व की है यह पत्रिका, महाशय?" उसने आशय-भरी आँखों से पाठकजी की

ओर क्षण भर देखा। दूसरा देहाती चुपचाप पाठकजी की ओर देख रहा था, मानो उत्तर की प्रतीक्षा में हो। उसने अपनी मैली पगड़ी ठीक करते हुए कहा, "महाराज, आप क्या ढूँढ़ रहे हैं?" पाठकजी उन गँवारों से कुछ न कहना न चाहते थे। उन्होंने टालने का विचार कर कहा, "कुछ नहीं, यों ही कुछ ग्रंथ ढूँढ रहा हूँ। तुम क्या समझोगे।" अब तो दोनों देहाती उनके पीछे पड़ गये।

पहला गाँधी-टोपीवाला आश्चर्य से उनकी ओर देखता हुआ बोला, "ग्रंथ? ग्रंथ यहाँ कहाँ? इस रद्दी में आपको ग्रंथ मिलेगा!" पाठक जी ने झल्लाहट से कहा, "और कहाँ तुम्हारे घर मिलेगा?" दूसरा देहाती कुछ डर गया। उसने अपने साथी की बाहें पकड़कर खींचते हुए कहा, "जाने दो, रामनंदनसिंह, इनसे क्यों बोलते हो। भुला, अगर सुनें, तो हमारे घर कुछ ग्रन्थ हैं—पर जाने दो अपने से क्या मतलब? चलो अपना काम करें, रास्ता लें।" उसने अपनी जान यह सब धीरे से कहा था, पर पाठकजी के कान सचेत थे। उन्होंने सुन लिया। सोचने लगे, "कहते तो ये सब ठीक ही हैं। इन रद्दी किताबों में हस्त-लिखित ग्रन्थ कहाँ मिलेंगे? पर, नहीं कभी-कभी मिल ही जाते हैं। और यह क्या कह रहा था? क्या इसके पास कोई ग्रन्थ है?" उन्होंने अब बड़े प्रेम से पूछा, "भाई, तुम लोग कहाँ रहते हो?" दोनों ने साथ उत्तर दिया, "हम लोग देहाती हैं।" देहाती से उनका तात्पर्य, गँवार, शहर की सभ्यता की छाया से परे, उस लोक में रहनेवालों से था, जो अपने को सभ्यता के आधुनिक सेन्टरों (केन्द्रों) से दूर रहने ही में अपना सौजन्य समझते हैं। इन्हें अपनी स्थिति पर सन्तोष रहता है, पर अपने आत्म-सम्मान के विषय में ये तनिक डाँवाडोल भी रहते हैं। पाठकजी

को इस विचार पर दया आगई। वे आधुनिक विचारों के उदार और भावुक व्यक्ति थे। लगे कहने, "देहाती? इसमें लज्जा की कौन बात? आप ही लोगों पर तो देश का सारा भार है। यदि आप न रहें, तो सारा देश रसातल को चला जाय।" दोनों देहाती गद्गद हो गये। अपने मन में मानों वे पाठकजी को "धन्य! धन्य!" कह रहे थे। पाठकजी ने पूछना आरम्भ किया, "आपका मकान कहाँ है?" दूसरा जो अभी तक संकोच करता था, बोला, "हम लोग यहीं उत्तर-ओर रामपुरवा के रहनेवाले हैं।"

पाठकजी ने अपनी सुनहरी ऐनक ठीक करते हुए पूछा, "रामपुरवा? अच्छा, यह उत्तर-ओर है। ? आप कौन लोग हैं," इतना कहते-कहते वे एकाएक चुप हो गये, जैसे जाति-पाँति का प्रश्न उठाकर उन्होंने कोई भारी अपराध किया हो। दूसरा देहाती कहने लगा, "हम लोग बनियाँ हैं, साहब! शहर में अपना सौदा-सुलफ़ ख़रीदने आते हैं।" अपने साथी की ओर संकेत कर उसने कहा, "ई ठाकुर हैं, हमारे पड़ोस में रहते हैं, मुला ज़मींदार है।"

पाठकजी ने सोचा, एकाएक हस्त-लिखित ग्रंथ की बात छेड़ दूँ। फिर विचार हुआ, कहीं ये लोग चौक न जायँ। ये ठहरे गँवार; चौके तो फिर हत्थे पर चढ़नेवाले नहीं। उन्होंने भूमिका बाँधनी आरम्भ की। बनिये ने मानो अब बात-चीत करना निश्चय कर लिया था। उसने अपनी मिरज़ई की खलीती से 'खैनी' निकाली और रामनन्दन सिंह से चुनौटी लेकर सुरती बनाने लगा। सुरती फाँककर उसने पूछा, "महाराज! आप यहाँ-कहाँ रहते हैं। आप ब्राह्मण हैं न?" पाठकजी ने सिर हिला दिया। लाख आधुनिक विचारों के होने पर भी वे अपने

ब्राह्मणत्व को न भूल सके थे। बनिये ने यह जानकर 'पालागन' किया। पाठकजी ने अपनी घात देख पूछना आरम्भ किया, "हाँ! तो आप लोगों का मकान रामपुरवा में है। कितनी दूर है यह?" "कोई पाँच-छः मील", बनिये ने कहा। पाठकजी ने सोचा अब यहाँ 'गुदड़ी' में ठहरकर बातें करना ठीक नहीं। इन्हें घर ले चलें। वहीं शान्ति से पूछताछ करेंगे। उन्होंने कहा, "भाई, यदि आपको किसी काम की जल्दी न हो, तो कृपाकर मेरे घर चलिए; आप लोगों से मुझे स्नेह हो गया है।" दोनों देहाती इस पर बड़े प्रसन्न हुए। ठाकुर बोला, "मुझे तो कोई बहुत काम नहीं है, यों ही ज़रा दो-चार चीज़ें लेनी हैं; कुछ दवाइयाँ, मेरे पिता ज़रा बीमार रहते हैं।" पाठकजी ने बात काटकर कहा, "बीमार? क्या बीमारी है?" पाठकजी डाक्टरी भी करते थे। अभी हाल ही में उन्होंने होमियोपैथिक की दवाइयों का एक बक्स और एक हिन्दी पुस्तक ख़रीदी थी। बड़े उत्साह से कहने लगे, "मैं खुद उनका इलाज करूँगा। आप व्यर्थ पैसा न ख़र्च करें। डाक्टर बड़े ठग होते हैं। मैं मुफ्त में इलाज करूँगा।"

बनिया बड़ा प्रसन्न हुआ। सोचने लगा, "ये बड़े काम के आदमी जान पड़ते हैं।" उसने बहुत सोचा पर उसके घर किसी को कोई बीमारी नहीं थी। मन में पछताने लगा। यह मुफ़्त की दवा हाथ से जा रही है। आख़िर उसने अपने शरीर में व्यधि ढूँढ़ना आरम्भ किया। पैर से चला, "अँगूठे में ज़रा दर्द है, पर नहीं, जूते ने दबाया है, ठीक हो जायगा। टाँगें? हाँ, सर्दी में कुछ अकड़ जाती हैं, पर नहीं, गर्मी में तो ठीक काम देती हैं। कमर, कमर! हाँ, है तो इसमें कुछ शिकायत। पहले मैं मनों का बोकचा पीठ पर लादकर गाँव-गाँव

घूम आता था, कभी कोई शिकायत नहीं होती थी, आज-कल डेढ़ दो मन ले चलने में लचक पड़ जाती है, पर नहीं, अब अवस्था भी तो वह नहीं रही।" उसने कमर छोड़ी। पेट पर आया। सोचने लगा, "पेट में ज़रूर कुछ गड़बड़ है, अब उतना खा नहीं सकता। कुछ 'अगिनी' मंद पड़ गई है। खाता ही कितना हूँ, यही सेर सवा सेर। इसी पेट में मैंने दो-ढाई सेर जौ की रोटियाँ, कसारी की दाल, पाँच-पाँच सेर मटर की छीमी, घड़ों ईख का रस पचा डाला है। पर अब, अब तो उतना नहीं खाया जाता है। ज़रूर कुछ शिकायत है पेट में।" एकाएक उसे ख़याल आया, पेट का इलाज करने में कभी-कभी डाक्टर लोग खाना बन्द कर देते हैं। वह डर गया। उसने सोचा, "हटाओ जी, जितना पेट में पच सकता है, उतना भी तो आजकल मिलना मुश्किल हो रहा है। अब वह पेट से सीने, सीने से गले, और गले से मुँह, नाक, आँख, सिर, सबकी परीक्षा वह कर गया। कहीं कोई शिकायत नहीं मिली। बेचारा दुःखी होकर रह गया। मुफ़्त की दवा उसके भाग्य में नहीं लिखी थी। पर वह हिम्मत न हारा। सोचने लगा चलें इनके घर पर शायद अपने मतलब के लायक, इनमें कोई गुण निकल आवे, बोला, "चलिए, महाराज आपके घर चलें। वहीं मज़े में बात-चीत होगी, पर ज़रा मैं अपने दो-चार सौदे लेता चलूँ।"

पाठकजी अपने दाँव में थे। उन्हें भी जल्दी हो रही थी। तीनों 'गुदड़ी' से बाहर हुए। पाठकजी ने लपककर एक इक्का लिया, तेज़ और बढ़िया। काशी में ऐसे इक्के दो ही चार नज़र आते हैं। तीनों बैठे। पाठकजी घर की ओर चलना चाहते थे, पर ठाकुर ने कहा, "ज़रा घर के लिए कुछ पान, लड़कों के लिए कुछ खिलौने ही ले

लें। दवा तो पिता जी की आप करने को कहते ही हैं।" इक्का पान-वालों के यहाँ रुका। ठाकुर उतरकर पान की ढोली का मोल करने लगा। वह तीन आने माँगता था। वह दो आने देता था। कई मिनट लग गये। पाठकजी इक्के पर बैठे ग्रंथों की बात सोच रहे थे। एकाएक चेत हुआ तो उतरकर दूकान पर पहुँचे और तीन आने जेब से निकाल कर पानवाले के सामने फेंक कर, ठाकुर को लेकर आगे बढ़े। आगे चलकर वह खिलौने ख़रीदने लगा। पाठकजी ने जल्दी से दाम चुकाकर उसे इक्के पर बैठाया। ठाकुर उपकृत हो आश्चर्य-चकित चुपचाप बैठ गया। बनिया बैठा सोच रहा था कि क्या-क्या लेता चलूँ। उसने सोचा, "दियासलाई एक ग्रास, सिगरेट १० डिब्बी, साबुन की टिकिया २५, इन्हीं सब की तो बिक्री है। थोड़ा लेता चलूँ।" अब पाठकजी का इक्का आगे बढ़ा। बनिये ने दूकान देखकर रोक दिया और अपना सौदा खरीदने लगा। पाठकजी उतावली में थे। वह मोल-भाव कर रहा था। सौदागर कहता, "भाव बढ़ गया है।" वह मानता ही न था। अन्त में उदास हो सोचने लगा, "न लूँ।" पाठकजी ने थोक वाले से पूछा, "कुल कितना होता है।" उसने कहा, १०॥=)॥।" पूछने लगे, "साहु जी कितना दे रहे हैं?" उत्तर मिला, "नौ चार आने।" पाठकजी ने ९।=)॥ देते हुए कहा, "बस इतने ही के लिए झक-झक। चलिए, बाँधिए।" बनिया प्रसन्न हो गया। उसने सामान बाँधते हुए कहा, "महाराज, यह झूठा है। भाव नहीं बढ़ा है। ये लोग मनमानी करते हैं।" पाठकजी ने उसे इक्के की ओर खींचते हुए कहा, 'खैर, चलिए आप। आपको तो उसी दाम पर मिली न।" बनिया बोला, "हाँ मिली तो, पर अगर भाव बढ़

गया है, तो मैं भी उसी हिसाब से बेचूँगा।" पाठकजी ने मानो सुना ही नहीं। बनिया अपने मन में प्रसन्न हो रहा था, कि चलो दूना लाभ उठाऊँगा, सस्ता ख़रीदा, महँगा बेचूँगा। इक्का पाठकजी के घर की ओर चला।

घर पहुँचकर पाठकजी ने दोनों की बड़ी ख़ातिर की। इधर संध्या हो रही थी। दोनों जल-पान कर चलने को तैयार हुए। पाठकजी को अभी अपनी बातें करने का मौक़ा ही न मिला था। वे सोचने लगे, "यह अच्छी रही मैं यों ही रह गया। और ये चलते बने।" एकाएक ख़याल आया, "इनके साथ चलकर ग्रंथ देख आऊँ और यदि काम हो तो इन्हें फुसलाकर उड़ा भी लाऊँ।" वे बोले, "क्यों साहु जी ! तुम रुक क्यों नहीं जाते। कल जाना घर।" वह बोला, "नहीं महाराज, मेरा हर्ज होगा।" पाठकजी बोले, "अच्छा तो आप कह रहे थे, मेरे यहाँ कुछ ग्रथ हैं। उनका तो हाल बताइए !" वह बोला, "मैं क्या बताऊँ। मैं बड़ा गँवार आदमी हूँ। यों पिता के समय के बहुत से ग्रंथ पड़े हैं। एक कोठरी में रखे थे, कोने में। मैं उनकी क्या क़द्र जानूँ। जब लड़के रोते हैं, सहुआइन उन्हें खेलने को दे देती है।" पाठकजी को यह सुनकर बड़ा दुख हुआ, "प्राचीन हस्त-लिखित-ग्रंथों की यह दुर्दशा ! वे लड़कों के खेलने की वस्तु बनाये जायँ ! उन्हें भारतियों की मूर्खता पर तरस आ रहा था। इसीसे तो हमारे देश की यह दुर्दशा है ! हम अपने पूर्वजों की कृतियों का मूल्य ही नहीं जानते !" उन्होंने अपने भावों को दबाकर कहा, "आख़िर वे कैसे ग्रन्थ हैं ?" ठाकुर बोला, "महाराज, आप इस मूर्खाधिराज से क्या कहते हैं। चलना हो, तो हमारे साथ चलकर देख लीजिए।

आपके काम के हों तो उठा लाइए। नहीं तो, इनके यहाँ लड़के फाड़ कर फेंक देंगे।" पाठकजी को वह प्रस्ताव अच्छा लगा, पर उन्होंने पूछा, "बहुत पुराने समय के हैं वे ग्रंथ ?" उत्तर मिला, "हाँ ज़रूर होंगे।"

पाठकजी, ने पूछा, "कागज़ बाँस का होगा ?"

बनिया कुछ सोचता हुआ बोला, "महाराज ! यह हम नहीं जानते। पर है पुराना।"

पाठकजी ने पूछा, "कुछ चित्र भी हैं बीच-बीच में ?"

बनिये ने सोचकर कहा, "हाँ, याद तो पड़ती है, तसवीरें, बीच में, हैं।"

पाठकजी पूछ बैठे, "लिखावट पढ़ी जाती है ?"

बनिया बोला, "मुझसे तो नहीं पढ़ी जाती।"

पाठकजी ने सोचा, "प्राचीन लिपि का पढ़ना क्या बनिये का काम है।" उन्हें निश्चय हो गया, कोई प्राचीन ग्रन्थ अवश्य है। उनका मन व्याकुल होने लगा। पूरी जाँच करनी चाहिए, यह सोचकर उन्होंने फिर दुबारा वही प्रश्न किया, पर इस बार कुछ अन्यमनस्क होकर उन्हें ध्यान हो गया कि कहीं बनिया चौंक न जाय, समझे कोई मार्के की चीज़ है; फिर तो मुकर जाय और इतना अमूल्य ग्रन्थ हाथ से जाता रहे। वे साथ चलने को राज़ी हो गये। ठाकुर के पिता के रोग का निदान करने के लिए उन्होंने दवाई की सन्दूक और किताब साथ ले ली। जल्दी से तैयार होकर वे साथ चलने को आ पहुँचे। साथ में छोटा-सा बिस्तरा, दवाई की सन्दूक, प्राचीन प्रतियों की खोज की रिपोर्ट और एक खुर्दबीन था। तीनों प्रस्थान को तैयार थे।

साहु ने पूछा, "महाराज, आप कैसे चलेंगे ? हम तो ग़रीब आदमी हैं, पैदल जायँगे। आपको पैदल कष्ट होगा।" पाठकजी ने हँसते हुए कहा, "वाह, ग़रीब-अमीर की क्या बात है, मैं भी पैदल चलूँगा।" ठाकुर बोला, "तो आइए, में आपकी दवाई का बक्स लिये लेता हूँ, पर यह बिस्तरा ?" पाठकजी ने उठाया तो बिस्तरा भारी लगा। हिम्मत हार गये। सोचने लगे "आख़िर, ये देहाती कब बिस्तरा बाँधे घूमते हैं। एक चादर है, इसको बिछाकर, आधी ओढ़कर रात काट देते हैं। हटाओ भी, मैं भी ओवर कोट और कंबल से काम चला लूँगा। कल सवेरे तो आ ही जाऊँगा।" उन्होंने बिस्तरा घर में वापस किया। उनकी गृहिणी कहती ही रहीं, पर वे हलका-सा कंबल लेकर चलते बने।

अँधेरा हो चला था। सर्दी की रात थी। अष्टमी का चन्द्रमा धीरे-धीरे आकाश में निकल रहा था। तीनों म्युनिसपैलटी की हद के बाहर हुए और उत्तर की सड़क पकड़ी। पाठकजी पीछे-पीछे चल रहे थे। दोनों आगे अपनी घरेलू बातों पर टीका-टिप्पणी करते जाते थे। शहर के बाहर होते ही पठाकजी ने पूछा, "आख़िर यहाँ से कितनी दूर है आप लोगों का गाँव ?" बनिया तबाकू की पीक थूकते हुए बोला, "अब कितनी दूर है, उस पुल के पार हुए और अपनी हद है।"

पाठकजी ने धुँधली चाँदनी में पुल की धुँधली रेखा देखी। वह क़रीब आधे मील पर था। वे प्रसन्न होकर बात-चीत में शामिल हुए। चलते-चलते पुल पीछे रह गया। किसी ने ख़याल ही न किया। पाठकजी पसीने से तर हो गये। उन्होंने पूछा, "क्यों ठाकुर साहब, पुल तो छूट गया। हम लोग रास्ता तो नहीं भूल गये ?" दोनों ठहाका मार कर हँस पड़े। पाठकजी डर गये। कहीं ठग न हों। दोनों बोले, "वाह

रास्ता भूलने की एक ही रही, इसी रास्ते आते-जाते हमारी उम्र बीत रही है, हम रास्ता भूल जायँगे?" पाठकजी लज्जित हो गये। तीनों चुप-चाप चलने लगे। कोई एक-दो मील और चले। अब पाठकजी थक रहे थे। उनके पैर में, मानो, छाले पड़ गये हों। पूछने लगे, "क्यों साहुजी अब कितनी दूर है, तुम्हारा घर?" साहुजी बोले, "दूर कितना है? बस पहुँच ही गये, क्या आप थक गये?" पाठकजी ने सोचा, "अगर कह दूँ कि थक गया हूँ तो ये मन में हँसेंगे।" बोले, "वाह, थक गया हूँ? इतने ही में!" यह कहकर वे आगे-आगे चलने लगे। दो-एक मील और गये। अब उनकी टाँगें काम नहीं दे रही थीं। वे खड़े हो गये। दोनों देहाती भी खड़े हो गये। शायद वे भी कुछ दम लेना चाहते थे। सड़क सुनसान थी! भूली-भटकी लारियाँ कभी-कभी निकल जाती थीं। साहु ने सुरती बनाना आरम्भ किया। पाठकजी ग्रन्थों की बात सोचने लगे, "अगर कहीं कोई मार्के की प्रति मिली, तो सारी मेहनत सफल। एकाएक ले जाकर रख दूँगा। म्यूज़ियम के सभापति दंग हो जायँगे देखकर!" यह विचार आते ही उनकी थकावट, मानो उड़ गई। वे कहने लगे, "हाँ, ठाकुर साहब, आपके पिता को क्या रोग है?" ठाकुर बोला, "क्या बतलाऊँ? चल रहे हैं—तो स्वयं देखिएगा। मेरी तो समझ में नहीं आता।"

'हाँ, साहुजी, चलो। अब तो सरदी लग रही है।" उसने साथी से कहा। साहुजी ने अपना बोकचा सम्हाला और दोनों चल खड़े हुए। सड़क छोड़ कर अब वे पगडंडी से चलने लगे। अरहर, सरसों, चने आदि के खेतों से होते हुए वे एक घने बाग़ में पहुँचे। चाँदनी डूब चुकी थी। पेड़ों पर उल्लू चीत्कार करते फिरते थे, सियार बोलने लगे

थे। पाठकजी मन में सोचते थे, "आज कहाँ फँस गये। पर हस्त-लिखित प्रति का ध्यान आते ही वे प्रसन्न हो जाते। उनकी आँखों के सामने बाँस के काग़ज़ पर लाल-काली स्याही से लिखा हुआ, बीच-बीच में हरताल पुता, चित्रों-सहित ग्रन्थ आ जाता था। वे स्पष्ट पढ़ने लगते, "अमुक··· कवि···विरचित·······संबत · शुभ स्थान······यद्दृष्टं तद् लिखितम्··· मम दोषो न दीयताम्। शुभ···········"

तीनों चलते-चलते बाग़ से बाहर हुए। नाला पार करके जाना था, पुल नहीं था। दोनों ने जूते उतार कर हाथ में ले लिये। पाठकजी ने पूछा, "क्यों क्या बात है?" उत्तर मिला, "कुछ नहीं ज़रा पानी पड़ता है।" पाठकजी ने भी अनुकरण किया, जूते खोले, मोज़े उतारे, धोती उठाई। तीनों पार हुए और आगे बढ़े। पाठकजी ने अपना आवेश दबा कर पूछा, "क्यों साहुजी, आख़िर कितनी दूर है तुम्हारा घर?" साहुजी बोले, "ठाकुर! जान पड़ता है, पंडितजी थक गये हैं।" पाठकजी ने झेंप कर कहा, "नहीं, थकने का क्या सवाल? मैंने बहुत दिनों तक गाँवों में कॉंग्रेस का काम किया है। मैंने तो यों ही पूछा था।" ठाकुर बोला, "पंडित जी अब समझिए पहुँच ही गये। सामने वह सिव-नगर दिखाई पड़ता है। वह देखते हैं न आप, सिवाले की चोटी—वह पीपल के सिरे के ऊपर। उससे निकले तो बस अपना ही गाँव है।" पाठकजी ने ग़ौर से देखा, उन्हें कोई शिवाला या उसकी चोटी—कुछ भी न दिखाई पड़ी। फिर भी वे चुप थे और चल रहे थे। चलते-चलते गाँव आ गया। ठाकुर ने कहा, "साहु, ज़रा संभू से मिलता आऊँ—पर जगाना पड़ेगा।" साहु बोला, "अच्छी बात है; तो चलो मैं भी ग्वाले से पैसे माँगता आऊँगा। तनिक देर तो होगी।" पाठकजी अब झल्ला रहे थे। उन्होंने कहा,

"अजी, कहाँ जाते हो, रात को किसी से मिलने-मिलाने। चलो सीधे घर" साहु कहने लगा, "मेरे चार आने हैं। लेता चलूँ, नहीं तो सहुआइन कहेगी, उधर से आये, लेते नहीं आये।" पाठकजी ने उसका हाथ पकड़कर घसीटते हुए कहा, "अच्छा चलो मैं दे दूँगा चार आने, सहुआइन को, अगर वह बिगड़ेगी। बस!" साहु अब लौट पड़ा। ठाकुर से बोला, "अच्छा ठाकुर चलो सीधे घर ही चलें।" ठाकुर ने उसकी बात न टाली। तीनों गाँव में न जाकर बाहर ही बाहर चले। अब बिलकुल अँधेरा हो गया था। वायु भी धीरे-धीरे चलने लगी थी। पाठक जी सर्दी, थकावट और चिंता के शिकार हो रहे थे। उन्हें अपने ऊपर झल्लाहट आ रही थी कि कहाँ आकर फँसे। फिर सोचते थे, "मुफ़्त में प्राचीन ग्रन्थ हाथ लग रहा है। यदि दाम देने पड़ते तो सैकड़ों लगते। बेचारे गँवार हैं, क़द्र नहीं जानते, सेंत में दे देंगे।" वे प्रसन्न हो कर चलने लगे। दूर गाँव के बीच से प्रकाश की रेखा दीख पड़ने लगी। साहु ने कहा, "ऊख की पेराई तो शुरू हो गई। ठाकुर, मुला कुछ है नहीं, हमारे रुपए वसूल होंगे कि नहीं!" ठाकुर बोला, "राम जाने, दिन तो अच्छे नहीं हैं। कहाँ से चुकावेंगे!" बाग़ आया, कुल्हा आया, फिर गाँव पार करना पड़ा—तब कहीं लोग घर पहुँचे। ठाकुर अपने घर की ओर चला; पाठक जी साहु के पीछे-पीछे, उसके दालान में जा बैठे। मारे थकावट के वे चूर हो गये थे।

बनिया ने पहुँचते ही घर का हाल-चाल पूछा, दूकान की बिक्री पूछी और हुक्का लेकर बैठ गया। उठा तो बोला, "पंडित जी, आप आराम करें। सवेरे ग्रन्थ दिखाऊँगा। कुछ खाने-पकाने की इच्छा हो तो

प्रबन्ध कर दूँ ?" पाठक जी को होश कहाँ था कि खाते-पकाते। वे पुआल पर पड़े तो बेसुध होगये। सबेरे आँख खुली तो दिन चढ़ रहा था। एकाएक उन्हें ग्रन्थ का ध्यान आया। साहु से पूछा। उसने सहुआइन से कहा। उसने लड़की से कहा। लड़की ने तब अपने भाई से पूछा। कहीं पता न चला।

पाठक जी लड़कों को फुसलाने लगे। अन्त में छोटे लड़के ने एक कोने से एक फटी पुस्तक ढूँढ़कर निकाली और उछलता हुआ वह पाठक जी के पास पहुँचा। बोला, "यही है! यही है! इसी के पन्ने फाड़कर हम लोग खेला करते हैं।"

पाठक जी ने झपटकर पुस्तक उठा ली। देखा तो वह प्रयाग-प्रदर्शनी की अंग्रेज़ी रिपोर्ट थी!

उन्हें अब भी विश्वास था कि ग्रंथ कहीं और होगा। साहु से पूछा, "क्यों साहुजी! यही है वह ग्रन्थ? नहीं, यह तो नहीं है?"

साहु ने गँवार गाहक को तंबाकू देते हुए कहा, "हाँ, यही होगा। हाँ, यही तो था, जिसे लड़के खेला करते थे। ऐसे ही और भी होंगे दो-चार, कहीं कोने में पड़े। लड़कों से पूछिए।"

पाठक जी आँखे फाड़कर उसकी ओर देखने लगे। वह निर्द्वंद्व बैठा, तंबाकू पीता हुआ, अपनी दूकान देख रहा था! पाठक जी अवाक् खड़े थे। उनका मस्तिष्क, विचार-शून्य हो रहा था।

❀ ❀ ❀ ❀

पता नहीं, घर लौटकर पाठक जी ने मित्रों को क्या कहा, पर म्यूज़ियम की वार्षिक रिपोर्ट में लोगों ने पढ़ा, कि म्यूज़ियम की ओर

से पाठक जी की निःस्वार्थ सेवा और साहित्य-प्रेम पर बधाई दी गई थी। सभापति महोदय ने स्वयं प्रस्ताव किया था कि म्यूज़ियम के कार्य-विवरण में यह बधाई का प्रस्ताव छापा जाय और पाठक जी के परिश्रम और त्याग से जो म्यूज़ियम की प्रतिष्ठा बढ़ी है, उसका उल्लेख उस रिपोर्ट में अवश्य हो।

मिस्टर शर्म्मा

जहाँ तक मुझे स्मरण है जाड़े की रात थी। मैं अपने ऊपर के कमरे में कम्बल लपेटे पड़ा था। फ़र्श पर इधर-उधर कुछ किताबें बिखरी पड़ी थीं। और जैसी मेरी आदत है, उसी फ़र्श पर बिछी हुई दरी पर, एक किनारे तकिया लगाये मैं कोई पुस्तक पढ़ रहा था। शायद वह मोपासाँ की कहानियों का कोई संग्रह था, क्योंकि मुझे अच्छी तरह याद पड़ता है कि पुस्तक रोचक थी और मैंने उसे दफ़्तर से लौटते ही पढ़ना आरम्भ किया था। हाँ, ठीक, मोपासाँ की कहानियाँ ही थीं, क्योंकि उस दिन मैं उसे पढ़ने में ऐसा तल्लीन था कि मुझे भोजन भी ऊपर ही कमरे में मँगाना पड़ा था। मैं भोजन के लिए नीचे उतरकर एक मिनट भी नष्ट नहीं करना चाहता था। उस दिन

भोजन भी मैंने बिना मिर्च और नमक माँगे ही समाप्त किया था। यह मुझे, पीछे मेरी स्त्री द्वारा मालूम हुआ। उसे तो आश्चर्य हो रहा था कि मैंने पुराना दस्तूर उस दिन कैसे छोड़ दिया था। मुझे भी आश्चर्य्य हुआ। पर मैं जानता हूँ कि इसका कारण मेरा स्वयं त्याग न था, कदाचित मेरी भूल थी। और वह भी इस लिए कि मुझे मोपासाँ की कहानियों न ऐसा उलझा रखा था। उस दिन उन कहानियों के कारण कई और भूलें भी हुईं—पर उन सब को गिनाकर क्या करूँगा।

बात यह थी कि मैं दफ्तर से लौटते ही उन कहानियों को लेकर बैठा था। मुझे पता भी न चला कि कब मेरे आस-पास के रहने वाले दफ़्तर के बाबूगण अपनी बाइसिकलों और खड़खड़ाते हुए मरियल एक्कों पर थके, माँदे, मुरझाय लौटे; कब म्यूनिस्पलटी की टूटी-फूटी पानी छिड़कने की गाड़ी अपनी त्रिभंगी चाल से सड़क पर कीचड़ करती हुई निकली; कब और कितनों ने उस सड़क की ढाल पर फिसलकर म्यूनिस्पलटी का शुभ नाम लेकर अनेक प्रकार से आशीर्वाद दिया—यह सब नित्य मेरे मकान के सामने होता था, और मैं नित्य उन्हें देखता था, पर उस दिन मुझे अच्छी तरह याद है, मैं यह सब देखने से वंचित रहा। इन सब की जिम्मेदारी उन्हीं कहानियों के सिर पर है। उन्होंने मुझे ऐसा भुला जो रक्खा था।

संध्या कब हुई इसका उस दिन मैं साक्षी न हो सका। उस दिन मुझे बिलकुल पता नहीं, कि सूर्य्यदेव अपने नित्य के नियम के अनुसार मेरे घर की छत से दीख पड़नेवाले उसी लाल दो-मंजिले बँगले के पीछे छिपे थे, या कहीं और; यह भी मैं नहीं कह सकता कि उस दिन उस बँगले की ऊँची चिमनी से काले बादलों के समान उठी हुई धूम-राशि ने उनके

प्रस्थान के समय सायंकाल की शोभा बढ़ाई थी या नहीं। उस दिन पता नहीं, कि मियाँजी के कबूतरों ने उस बँगले के पास की ऊँची नीम के शिखर को हरानेवाले उस लम्बे बाँस पर लगी छतरी पर बसेरा लिया था अथवा कहीं और। इन सबका मुझे क्या पता हो सकता है, जब मैं आफिस से लौटते ही कमरा बन्दकर कम्बल लपेट मोपासाँ की कहानियाँ पढ़ने बैठ जाऊँगा !

संध्या कब हुई जब इसी का पता नहीं, तो अँधेरी रात की काली छाया कब छिपती हुई धीरे-धीरे संसार को अपने काले अंचल में छिपाती है, इसका पता मुझे क्या मिल सकता है। मेरे कमरे में तो पचास कैण्डल पावर के 'फिलिफ बल्ब' के प्रकाश में वह ढूँढने से भी कहीं न मिलती। पर मुझे स्मरण है कि भोजन के पश्चात् मुझे तल्लीनता में एक अज्ञात सुविधा और आनन्द का अनुभव हो रहा था; और पुस्तक में डूबे रहने पर भी मेरी आत्मा को शान्ति की एक अज्ञात चेतना धीरे-धीरे अपना रही थी। उस समय तो मुझे कुछ ऐसा भासित हो रहा था मानो आज मैंने एक योगी की भाँति अपनी वाह्य इन्द्रियों को अपने वश में रखकर अपने मन को एकाग्र करने में सफलता पाई थी। यदि ऐसा होता तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होती। पर शायद इसका श्रेय मुझे न मिलकर उस जाड़े की अँधेरी रात के बढ़ते हुए शान्तिमय वातावरण को मिलना चाहिए।

हाँ, मैं कहानियाँ पढ़ रहा था। मेरी आँखें उस बिजली के दुग्धमय प्रकाश में, उस मोटे एन्टिक पेपर पर छपे मोती से सुडौल अक्षरों को चुन-चुनकर शब्दों और शब्द-समूहों में परिणत करती जाती थीं। मेरा मस्तिष्क उन्हें देख मुझे न जाने किस लोक की सैर करा रहा था। मैं कल्पना के रचे उस लोक में भ्रमण कर रहा था, जहाँ किसी वस्तु

की कमी न थी। जिधर आँखे उठाईं—जो चाहा, वह देखा।

मैं कहानियों में डूबा हुआ था। पृष्ठ-के-पृष्ठ मेरी आँखों से गुजरते जाते थे; और मैं मानो मेल ट्रेन पर बैठा हुआ चुपचाप संसार का दृश्य देखता हुआ चला जा रहा था। एकाएक मेरी शान्ति भंग हुई। कोई दरवाज़ा खटखटा रहा था। मैंने क्षण भर पुस्तक से आँखें फेरीं और फिर पढ़ने लगा। मेरी कहानी अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी, एक भारी रहस्य का उद्‌घाटन होने जा रहा था। मैं पढ़ने लगा। 'उफ़'—मैंने किताब ज़ोर से फ़र्श पर पटक दी और उठकर बैठ गया। "कौन सिर पर आसमान उठा रहा है ?", मैंने क्रोध में चिल्लाकर कहा।

"अजी खोलिए भी हज़रत ! मालूम होता है आज फिर बजट एडजस्ट हो रहा है!" नीचे से परिचित आवाज़ और उसके पीछे एक कहकहा मेरे कानों में पहुँचा। अरे ! यह तो मिस्टर यादव की आवाज़ थी। यादव मेरा घनिष्ट मित्र है।

"आता हूँ भाई"! कह, मैं हड़बड़ाकर उठा। जल्दी में टेबिल-लैम्प उलटकर 'बल्ब फ़्यूज़' हो गया। सारे कमरे में अँधेरा, अँधेरी रात! इधर-उधर टटोला तो कहीं दरवाज़ा हाथ आया। अँधेरी सीढ़ी पर अंदाज़ से उतरकर, चारपाई, बरतनों और न जाने किस-किस से टकराता हुआ नीचे के कमरे की 'स्विच' तक पहुँचा। झल्लाहट में 'स्विच' को इस ज़ोर से झटका, मानो सारा दोष उसी का हो।

दरवाज़ा खोला, बाहर की ठँडी हवा और मिस्टर यादव के आते ही मानो मेरी झल्लाहट जाती रही।

"हैलो ! मिस्टर यादव ! गुडनाइट", कहते हुए मैंने अपना हाथ बढ़ाया।

"हैलो मिस्टर भारतीय," कहता हुआ यादव, मुझ से झपटकर लिपट गया और मुझे छोड़कर कहने लगा, "कहो दोस्त आनन्द से तो हो न।" और लगा वह एक्के से सामान उतारने। मैंने लपककर सहयोग देने का प्रस्ताव किया, पर तब तक वह अपना भारी ट्रंक और बिस्तर दोनों हाथों में लेकर कमरे में दाखिल हो गया। उसका बचा-खुचा सामान, जाड़े से ठिठुरते हुए, खों-खों करते हुए, एक्केवान ने लाकर उसके पास रख दिया।

"अच्छा तो तुम्हें क्या चाहिए बोलो, कम ऑन," उसने उस दुबले पतले एक्के वाले की ओर देखकर कहा।

"बाबू आठ आने, हुजूर, सरदी में," उसने हाथ जोड़कर कहा।

"आल राइट। हियर यू आर लो", उसने अठन्नी जेब से निकाल कर फेंक दी। चाँदी का गोल टुकड़ा पत्थर की फर्श पर गिरकर एक बार उछला, गिरा, फिर उछला, फिर गिरा। और साथ-ही-साथ झन-झन, झन-न-न, की ध्वनि कई स्वरों में निकालता हुआ, ढुलककर कमरे के एक कोने में चुप-चाप पड़ गया। एक्केवाले ने उसे संतोष की आँखों से देखा और काँपते हुए हाथों से वहाँ से उठाकर उसने मिस्टर यादव की ओर देखते हुए कहा, "हुजूर! एक बीड़ी दे देते।"

हजूर के 'रे' की लंबी स्वरावली और उसकी मुद्रा से याचना की दीनता प्रकट होती थी। यादव ने उसकी ओर एक सिगार फेंकते हुए कहा, "लो जी! यह लो। आल राइट! नाऊ यू गो!"

कृतज्ञता से झुककर सलाम करता हुआ, वह बूढ़ा एक्कोवाला कमरे से बाहर हुआ। उसके पीछे मिस्टर यादव ने ज़ोर से दरवाज़ा बंद करते हुए कहा, "उफ़! यहाँ के एक्के, डैम राट! उस पर साले लड़कर, झगड़कर माँगकर, गिड़गिड़ाकर, किसी तरह पैसा ज़रूर ले लेंगे।

इनसे जान बचानी मुश्किल हो जाती है। खैर! कहो मिस्टर भारतीय, कैसे रहे। हाँ, बच्चे वगैरः तो सब अच्छी तरह से हैं न ?", और वह लगा कमरे में टहलकर सिगार जलाने।

उसका हाथ पकड़कर कुरसी पर बैठाते हुए मैंने कहा, "यह सब दुनियादारी की बातें तो बाद में होंगी, पहले यह बतलाओ तुम इस प्रकार लद-फदकर आ कहाँ से रहे हो ?"

कुरसी पर बैठकर उसने अपनी टाँगे फैला दीं और ओवरकोट का बटन बन्द करते हुए, उसने कहा, "आल राइट, कम आन, मैं कहाँ से आ रहा हूँ ! क्यों ? लखनऊ से ?"

मैंने बीच में टोककर कहा, "लखनऊ ! इस समय लखनऊ से गाड़ी आती है ? होश में तो हो न, कि फिर उस दिन की तरह आज भी—"

मिस्टर यादव ने ओवरकोट का बटन खोलते हुए कहा, "अजी नहीं, तुम्हें भी हर वक्त वही। मैं कानपुर हो कर आ रहा हूँ। एक जरूरी काम था वहाँ।" यह कहकर वह उठ खड़ा हुआ और लगा अपना बिस्तर खोलने।

मैंने कुरसी पर ज़रा उठकर बैठते हुए कहा, "यह तो बतलाओ कुछ खाने-पीने की भी नीयत है या लगे सोने की तैयारी करने ?" बिस्तरबन्द का एक बकसुआ खोल, उसे वहीं छोड़, मिस्टर यादव फिर कुरसी पर आ बैठे, और लगे कहने, "लो अच्छा न खोलेंगे। पहले सब सुन लो। मैं एक काम से कानपुर गया था; वहाँ से छुट्टी मिली तो यहाँ चला आया। सोचा, उसी तरफ से लखनऊ लौट जायँगे और तुम लोगों से भेंट भी हो जायगी। अच्छा, अब रही खाने-पीने की बात—तुम्हें

मालूम है कि कानपुर की गाड़ी यहाँ दस बजे पहुँचती है। और उस समय तक क्या मेरा पेट सोता रहता ? मैं तुम्हारी तरह थोड़े ही हूँ कि काम करूँ ज़्यादा और खाऊँ कम ! यहाँ तो बात उलटी है। कानपुर से खूब डटकर चला, रास्ते में जहाँ कुछ मिला खाता आया, और फिर यहाँ एक्के पर चढ़ते-चढ़ते स्टेशन पर ही हलवाई की दूकान पर गरमागरम पूरियाँ खा लीं। अब बोलो तुम्हारी राय हो तो कुछ और खा लूँ ? पर मुझे अब नींद—"

मैंने बीच में टोककर कहा, "ख़ैर हज़रत, आप ने जो किया सब ठीक। कम-से-कम मुझे तो तुम ने परेशानी से बचा ही लिया। मैं तो खा-पी चुका हूँ। तुम्हारे लिए फिर से—"

हम दोनों ऊपर पहुँचे। लेम्प का बल्ब बदला गया और हम आराम से बैठे। मैंने सिगरेट का टिन सामने रखते हुए कहा, "अच्छा आओ एक-एक सिगरेट जलायें, फिर देखा जायगा।"

मिस्टर यादव ने सिगरेट जलाया और सलाई मेरी ओर फेंकी। मैंने अपना सिगरेट जलाते हुए उनकी तरफ़ ऐश-ट्रे बढ़ा दी। "ठीक," कह कर उसने उसे अपनी ओर खिसकाकर, एक लम्बी कश खींचते हुए कहा, "अच्छा कहो दोस्त कैसा हाल चाल है ?" किताबों की ओर देखकर उसने पूछा, "ये सब क्या पड़ी हैं।" मैंने कहानियों की वही पुस्तक उसकी ओर फेंकते हुए कहा, "इसे देखो बड़ी सुन्दर पुस्तक है, बड़ी रोचक कहानियाँ हैं। तुम्हारे आने तक मैं इन्हीं में लीन था। सच पूछो तो तुम्हारे चिल्लाने पर मुझे बड़ा क्रोध आया था।"

"हा-हा-हा !," उसने कहकहा लगाते हुए कहा, "मैंने सुना था, तुम ने बड़ी ज़ोर से डाँटकर जवाब दिया था। मैंने समझा था कि

बजट के फेर में पड़े हो ?"

मैंने किताब एक तरफ़ रखते हुए पूछा, "कहो जी यादव, वह कौन सा आदमी था जिसे डर्बी की लाटरी का पहला इनाम मिला था ? मुझे याद आ रहा है कि नवम्बर के महीने में मैंने "लीडर" में कोई ऐसी ख़बर पढ़ी थी। उसके पश्चात् तो तुम्हें मालूम ही है कि मैं बीमार होकर बाहर चला गया था।"

मिस्टर यादव ने दूसरा सिगरेट जलाते हुए कहा, "हाँ, अच्छी याद दिलाई। उसकी एक विचित्र कहानी है। सुनते हो तो सुनो नहीं तो मैं लम्बी तानता हूँ।" यह कहकर वह लेटने चला। पर मैंने उसके सिरहाने से तकिया खींचते हुए कहा, "बिना उसे सुने मैं तुम्हें सोने थोड़े ही दूँगा। उठो बस कह चलो। यह लो ऐश-ट्रे, देखो रज़ाई न फूँक डालना ?"

"तुम बड़ा परेशान करते हो भारतीय ! मुझे नींद तो सता रही है पर तुम्हारी बात मैं कैसे टालूँ ? पर देखो दोस्त एक शर्त है।"

मैंने पूछा, "भला शर्त तो सुनें तुम्हारी।"

उसने कहा, "शर्त सिर्फ़ यह कि मैं तब तक जागता रहूँगा जब तक मेरा पाँचवाँ सिगरेट ख़तम न हो जाय। बस पाँचवाँ सिगरेट मेरा समाप्त हुआ नहीं, कि मैं फ़ौरन सो जाऊँगा, चाहे तुम्हारी कहानी पूरी हो या न हो ?"

मैंने कहा, "अच्छा मंज़ूर, यह लीजिए सिगरेट नम्बर एक और आरम्भ कीजिए।"

सिगरेट नम्बर एक

मिस्टर यादव ने उठकर बैठते हुए कहा, "लाइए, तसलीम !"

और उसने सिगरट मुँह से लगा लिया। उसे जलाते हुए उसने कहा, "अच्छा सुनो भाई भारतीय, सुनो उस क्लर्क की कहानी।"

मैं सजग होकर सुनने लगा। मिस्टर यादव सिगरेट का कश खींच कर लगे कहने।

"हमारे नगर में सरकार का एक महकमा है—या यूं कहिए एक संस्था है, जिसका नाम —लेकिन नाम लेने की कोई ज़रूरत नहीं—कारण यह है कि वहाँ के अधिकारी वर्ग इससे नाराज़ होते हैं। वे नहीं चाहते कि उनकी सस्था के बारे में कोई चर्चा करे। क्यों इस से बहस नहीं, वे नहीं चाहते। हो सकता है, इससे उनकी ओर जनता अधिक आकर्षित होती हो, जिसमें वे अपनी बुराई समझते हों; यह भी हो सकता है कि वे प्रसिद्धि के प्रेमी न हों; यह भी हो सकता है कि जनता के सामने आने में वे घबड़ाते हों। कुछ भी हो। हमारे लिए तो यही कहना काफी है, कि यदि वे छिपे हुए रहना चाहते हैं और उनका नाम लेने से हमें जब कोई विशेष लाभ नहीं, तो बस हम इतना ही कहेंगे, 'हमारे नगर में एक संस्था है।'

हाँ, तो हमारे नगर की वह संस्था सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही कही जा सकती है अथवा यों कहें, कि न वह सरकारी है—न गैर-सरकारी। सरकार से उसका पालन-पोषण होता है; जनता के कुछ लोग उसका प्रबन्ध, उसका नियंत्रण करते हैं। यहाँ के अधिकारीवर्ग—जब उन्हें अपने कार्य्य-कर्ताओं पर रोब जमाना होता है, अथवा जब उन्हें जनता की इच्छा की अवहेलना करनी होती है, अथवा जब उन्हें अपनी मिथ्या शान जमाने का शौक होता है, तो वे उसे सरकार की आड़ लेकर करते हैं, क्योंकि जनता की आर्थिक सहायता की या उसकी सहानुभूति की उन्हें आवश्यकता

नहीं रहती। परन्तु जब कभी उन्हें सरकारी आक्षेपों का सामना करने का अवसर आता है, तो वे सार्वजनिक मत की दोहाई देकर, सरकार पर यह प्रकट करना चाहते हैं, कि उन्होंने जो कुछ किया है, जनता के लाभ और उनकी सहानुभूति के बल पर। और इसलिए यदि सरकार उनके कृत्यों की आलोचना करेगी, तो जनता में कोलाहल मच जायगा। और इसकी ज़िम्मेदारी सरकारी नीति पर होगी; उनके आचरणों पर नहीं।

"हाँ, तो उसी संस्था में एक बेचारा क्लर्क था। बेचारा—इस लिए नहीं कहा, कि इस संस्था का वही कर्मचारी इस दया का पात्र हो। नहीं, यह बात नहीं। उस संस्था के प्रायः सभी कर्मचारी सरकारी तथा गैर-सरकारी—दोनों प्रकार की संस्थाओं की ज्यादतियों के शिकार थे। गवर्नमेंट के कर्मचारियों की भाँति—चौबीस घंटे के नौकर, क़ानून-क़ायदे में जकड़े हुए, पराधीन और आत्म-सम्मान से वञ्चित। गैर-सरकारी संस्थाओं के कर्मचारियों की भाँति, अल्प-से-अल्प वेतन भोगी, न पेंशन, न प्राविडेन्ट फंड, न वेतनवृद्धि, न कोई आमदनी, न छुट्टी, न कोई भविष्य की आशा। यही नहीं, बरख़ास्तगी की तलवार भी नित्य उनके सिर पर लटकती रहती थी। वे विवश थे, अनाथ थे। उनके लिए न कानून था, न कायदा; न अपील, न सुनवाई। हाँ तो, उसी संस्था में वह बेचारा क्लर्क था, और चालीस रुपया मासिक वेतन पाता था।

"हाँ, तो उस क्लर्क का नाम था" मिस्टर यादव ने सिगरेट का धुआँ नाक से निकालते हुए कहा, "पर नहीं, उसका नाम लेकर क्या करोगे। ठीक ठीक नाम तो मैं बतलाता नहीं, और इसे जान कर करोगे ही क्या ?"

मैं उनके मुख की ओर आश्चर्य और उत्सुकता से देख रहा था। सिगरेट का नीला धुआँ घुंघराले केश-कलाप की भाँति उसके मुख

और नाक से निकलकर शून्य में सर्प की भाँति बल खाता हुआ ऊपर चढ़ रहा था।

"हाँ, तो उसका नाम मैं नहीं बतलाना चाहता और कदाचित मिस्टर भारतीय, तुम्हें उसके जानने की आवश्यकता भी न होगी। उसका काल्पनिक नाम रखना होगा—राम, श्याम, गोबिन्द, माधो, सुरेश, रमेश, जयशङ्कर, उदयशङ्कर। जो चाहो रख लो। पर इस नामकरण के व्यर्थ झगड़े में न पड़कर हमें आगे बढ़ना चाहिए। अच्छा हो, कि हम इस बखेड़े में न पड़कर उसे मिस्टर शर्मा के नाम से संबोधन करें। था तो वह जाति का ब्राह्मण, इससे उसे मिस्टर-शर्मा या शर्मा जी कहने में कोई हर्ज भी नहीं।

"मिस्टर शर्म्मा या शर्म्मा जी ऐसे ज़िले के रहनेवाले थे, जहाँ इस बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भी पाश्चात्य सभ्यता की विकृत छाया अभी तक नहीं पहुँच सकी थी। अभी भी वहाँ, मिस्टर भारतीय, तुम्हें ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्होंने रेल पर सवारी नहीं की है; और जिन्हें पुलिस का नाम सुनते ही जूड़ी, कँप-कँपी आ जाती है। उस ज़िले के ऐसे ही एक अज्ञात, नगण्य, छोटे-मोटे गाँव में, उसका जन्म हुआ था। साधारण माता-पिता का वह एक-मात्र पुत्र था। उसका लड़कपन, उसी प्रकृति के श्रृंगारहीन, अकृत्रिम वातावरण में बीता था। उसका संस्कार था, वही प्राचीन हिन्दू सभ्यता का परम्परागत व्यापक विश्वास और उद्देश्यहीन लोकधर्म। लड़कपन में उसके सामने आदर्श स्वरूप साधारण धर्मभीरु, किसान, ब्राह्मण दम्पति का आचरण था—यही थे उसके माता-पिता। उनके संसार की सीमा विश्व के कोने को आवेष्ठित नहीं करती थी। उसकी सीमा की रूप-रेखा थी उस छोटे-मोटे गाँव की हदबंदी की

टूटी-फूटी खेत की मेंड़ें, जिनके उस पार बनराजि की हरीतिमा थी, नदी का विशाल वक्षस्थल और श्वेत सिकता से भरी, चमकती हुई रेतीली भूमि। उसके उस पार क्या था, यह उस दम्पति ने कभी जानने की चेष्टा नहीं की थी।

"हाँ, तो उस ब्राह्मण परिवार में कुल चार प्राणी थे। माता-पिता पुत्र और एक हलवाहा। तीन का काम था खेती-बारी-गृहस्थी, चौथे का काम था उनके पीछे-पीछे रहना और खेलना। इस प्रकार खेल-कूद में बढ़ता हुआ वह शिशु पाँच वर्ष की आयु को प्राप्त हुआ। तब बड़े शर्म्मा को 'लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि...' की प्राचीन नीति के अनुसार लड़के को पढ़ाने की चिन्ता हुई," यह कहते हुए मिस्टर यादव ने 'कार्क टिप्ड' सिगरेट का शेषाँश एश-ट्रे में फेंक दिया। मैंने देखा कि उसका सिगरेट नम्बर एक जलता हुआ, मुख पर लपटे हुए कार्क के पतले आवरण को जलाने का प्रयत्न कर रहा है और उसमें से निकलती हुई धूम्र की पतली शिखा पेंच खाती हुई आकाश में नाना प्रकार के रेशमी जाल बना रही थी। क्षण भर मेरा ध्यान उसी ओर खिंच गया।

"अच्छा, तो इधर इनायत कीजिए सिगरेट नम्बर दो मिस्टर भारतीय", ने मेरा ध्यान तोड़ा और दूसरा सिगरेट मित्र की ओर बढ़ाते हुए उत्सुकता से मैं उसकी ओर देखने लगा।

सिगरेट नम्बर दो

मिस्टर यादव ने सिगरेट जलाते हुए कहना आरम्भ किया, "हाँ तो उस पंचवर्षीय बालक क्लर्क के पिता को उसे पढ़ाने की चिन्ता हुई। उस छोटे से दूरस्थ ग्राम में न कोई पाठशाला थी और न उसके निकट-

तम कोई सरकारी मदरसा। अतः पिता को उसे पहले-पहल अपना थोड़ा बहुत अक्षर तथा भाषा-ज्ञान, जो उसके पास था, देना निश्चय करना पड़ा। उसने अपनी पुरानी लकड़ी की काली पाटी ढूँढ निकाली, और गाँव के पास की कँकरीली भूमि से दूधिया मिट्टी लाकर उसके लिए लिखने का सामान एकत्र किया। शिक्षा का श्रीगणेश इस प्रकार थोड़े ही आडंबर से, परन्तु प्राचीन विधि के अनुसार ही हुआ। पूजा-पाठ, हवन, मित्रों का समारोह, प्रसाद वितरण—जो कुछ वहाँ उस छोटे से स्थान में संभव था, हुआ। आनन्द की मात्रा भी उस विधान में कम न थी। ब्राह्मण-दम्पति अपने एक-मात्र पुत्र के विद्यारंभ के अवसर पर प्रेम और आनन्द से गद्गद हो गये थे। पिता की तो नहीं कह सकते, पर माता की आँखों में लोगों ने उस समय निश्चय अश्रुकण देखे थे, जब उसने प्रेम से गद्गद होकर अपने दोनों हाथों में लड्डू लिये हुए अपने पुत्र को आलिंगन करते हुए आशीर्वाद दिया था।

"हाँ, तो इस प्रकार पिता द्वारा आरंभिक शिक्षा पाकर वह वर्णमाला, गिनती और पहाड़े में निपुण हो गया। और साथ-ही-साथ उसने रामायण के कुछ छन्द, कुछ पौराणिक तथा परम्परागत प्राप्त दन्त-कथाएँ, पूजा-पाठ के टूटे-फूटे मंत्र भी याद कर लिये, जिनकी भाषा का शुद्ध रूप कभी भाषा-विज्ञान के तत्वविद् की खोज की मनोरंजक सामग्री होगी। क्रमशः अपने पिता के ज्ञाननिधि का पूरा अधिकारी होकर, वह अब उससे अधिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए, अपने एक संबंधी के यहाँ रहकर कसबे के मिशन स्कूल में भरती होने गया। पिता की संदिग्ध रज़ामन्दी पर भी उसके संबंधी को उसकी माता की अनुमति प्राप्त करने में शायद अधिक तर्क और बुद्धि ख़र्च करनी पड़ी थी। आख़िर अपने एकमात्र पुत्र के उज्ज्वल

भविष्य की आशा ने उस ब्राह्मण दम्पति को अपने मोह को रोककर अपने पुत्र को दूर कसबे में भेजने पर बाध्य किया था।

"दस वर्ष की उमर में उस भावी-क्लर्क ने अपने गाँव को छोड़कर कसबे के वातावरण का अनुभव किया। गाँव में उसके दस वर्ष के जीवन का विकास उसी प्रकार हुआ था, जैसे उस गाँव के पूर्व दिशा में लगी हुई अमराई का। जिस प्रकार उन आम्र-वृक्षों का बोया जाना, लगाया जाना, सींचा जाना, बढ़ना, और पल्लवित होना प्रकृति के अनन्त नियम के अनुसार हुआ था, उसी भाँति उस ब्राह्मण-शिशु का भी हुआ। उसका जीवन न उसके लिए, न उसके माता-पिता के लिए कभी कोई उलझी हुई पहेली या परम्परागत रूढ़ियों के नियमों में न बँधने वाली अपवाद स्वरूप कोई घटना प्रतीत हुई। उसका जीवन किसी वैयक्तिक सत्ता का परिणाम न था। वह तो प्रकृति के अनंत सत्य के अटल नियमों से परिचालित संसार की वस्तुओं में से एक वस्तु थी। अस्तु, वह कसबे में अपने संबन्धी के यहाँ रहने लगा और लगा मिशन स्कूल के अपने संबन्धी पंडित के साथ नित्य स्कूल जाने। उसने निम्न श्रेणी से अपनी नये ढँग की शिक्षा आरंभ की। और धीरे-धीरे लगा पुस्तकें पढ़ने, याद करने, और परीक्षा में उत्तीर्ण होने। इन सारी बातों में कारण और कार्य्य के संबन्ध के सिवा और कोई विशेष बात उसे नहीं दीखती थी। उसके वार्षिक परीक्षाफल पर जब उसके शिक्षकगण प्रसन्न होकर, उसकी तारीफ़ करते, तो वह सिवा शर्माने के और किसी मानसिक विकार का अनुभव न कर पाता था। उसे अपनी सफलता पर गर्व तथा प्रसन्नता करने का कभी कोई कारण नहीं मिलता था। वह सोचता था कि पढ़ना और पास होना— इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? प्राकृतिक नियम के अनुसार

इस कारण-कार्य के अटल नियम पर उसे विशेष प्रसन्नता तथा आनन्द मनाने का कोई अवसर नहीं दिखाई पड़ता था। हम कह सकते हैं, कि उसके हृदय में अनुभूति की मात्रा कम थी।

"अच्छा तो," मि० यादव ने एक लम्बी कश से सिगरेट को जगमगाते हुए कहा, "हाँ तो, इस प्रकार उस विचित्र लड़के ने धीरे-धीरे मैट्रिक की परीक्षा पास की। इन सात वर्षों में उसके जीवन में कोई विशेष घटना नहीं हुई। उसने स्कूल की निम्न श्रेणी में नाम लिखाया, पढ़ाई आरम्भ की, साल-ब-साल पास होता था, खाता था, पीता था, खेलता था, कूदता था। उसका शरीर धीरे-धीरे बढ़कर सोलह वर्ष का हुआ और उसका ज्ञान धीरे-धीरे बढकर मैट्रिक की किताबों की परिधि तक पहुँच गया। इधर उसकी मैट्रिक परीक्षा का फल निकला, उधर उसके उत्सुक माता-पिता ने उसका विवाह कर दिया। यह सब वैसे ही हुआ जैसे संसार के अन्य प्राकृतिक व्यापार होते रहते हैं।

"विवाह उसके जीवन में एक साधारण घटना थी। आज-कल के शिक्षित लोग भले ही इस पर आश्चर्य प्रकट करें। उन्हें इस रोमांस-हीन विवाह पर दुख और दया आ सकती है, पर उस ब्राह्मण-पुत्र को कभी रोमांटिक होने का अवसर न मिला था और न उसके जीवन में (अन्य हिन्दू लड़कों की भाँति) कहीं रोमांस के लिए स्थान ही था। विवाह उसके लिए हिन्दू के जीवन की एक आवश्यक घटना थी; यह उसके जीवन में भी घटी, तो इस पर उसे आश्चर्य हो ही क्या सकता था? और उसे कहाँ अवसर था इसके महत्त्व, इसके उत्तर-दायित्व, आधुनिक विचारकों द्वारा वर्णित, उसके अत्याचार तथा गूढ़ प्रश्नों पर विचार करने का।

"मैट्रिक परीक्षा पास कर विवाहित वह भावी-क्लर्क जब अपने जन्म-स्थान को लौटा तो उसे ज्ञात हुआ कि उसे माता-पिता के उस ऋण को चुकाना होगा, जो उसे छोटी हैसियत के ब्राह्मण-दम्पति को उसके पढ़ाने के लिए लेना पड़ा था। उसे अब किंचित चिंता हुई। अब उसे समझ पड़ने लगा कि उसकी पढ़ाई का आर्थिक मूल्य भी है और उसका उपयोग, उसे अपने माता-पिता पर चढ़े हुए उस ऋण के बोझ को हलका करने में करना पड़ेगा। उसे नौकरी की चिंता होने लगी। और अब वह अपने को केवल सृष्टि का एक प्राणी न समझकर, धनोपार्जन का एक जीवित साधन भी समझने लगा। इस चिंता ने उसे घर छोड़कर क़स्बे, और वहाँ से ज़िले, और अन्ततः कमिश्नरी तक पहुँचने पर वाध्य किया। इस प्रकार भटकता हुआ वह एक दिन उस दफ़्तर के प्रधान कर्मचारी के यहाँ पहुँचा, जिसने दया कर "साहब" से सिफ़ारिश करके उसकी नियुक्ति वहाँ करा दी। जब वह उस दफ़्तर में पहले-पहल अपने पद को सुशोभित करने के लिए पहुँचा तो उसके सहकारियों ने ऐसा अनुभव किया कि मानो उनके बीच एक अजीब मनुष्याकार-जंतु आ पड़ा हो। अठारह वर्ष का लम्बा-चौड़ा, सुडौल, गंदुमी रँग का देहाती ब्राह्मण उन सूट-बूट धारी चिकने-चुपड़े बाबुओं में और कैसा लगता? कहाँ पाश्चात्य सभ्यता के क़दमों पर चलनेवाले वे शहर के बाबू लोग, कहाँ वह देहाती समाज का प्रतिनिधि! उसके पहनावे, उसके तर्ज़-तरीक़े, उसकी भीरुता, उसकी भाषा—सभी पर वहाँ के कर्मचारियों ने नाक-भौं सिकोड़ा, मज़ाक उड़ाया और विरोध किया। उस बेचारे नवागत क्लर्क को ऐसा अनुभव हो रहा था, मानो वह सचमुच लंका में जा पहुँचा हो।

"उसकी वहाँ वही हालत हुई जो गाड़ी में जगह पाने के पूर्व रेल

के तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की होती है। सिवा उस प्रधान कर्मचारी के कोई भी उस दफ्तर में उससे अछूत के सिवा और किसी तरह का व्यवहार करने को तैयार न था। उसे कोने में एक छोटी सी मेज़ पर काम करने को मिला। न कोई उसे कोई बात समझाने को तैयार होता, न कोई उससे सीधे बात करने पर। जिधर से देखिए उसपर बौछारें पड़ रही हैं। कहीं उसकी हँसी की नक़ल होती, कहीं उसके कपड़ों की हँसी होती, कहीं लोग उसका नामकरण करते, कहीं उसे परीशान करने की नई तरकीबें सोची जातीं। यह नहीं कि वह बेचारा सुनता न हो, समझता न हो, पर बात यह थी कि उसे इन बातों पर क्रोध करने का कोई कारण न मिलता था। और इसी लिए वह न कभी उनका विरोध करता, न उन लोगों के प्रति कोई बुरी भावना ही अपने मन में आने देता। उसे अपने सहकारियों का आचरण केवल एक असंभव बात प्रतीत होती, जिसका व्यक्तिगत अनुभव न होने के कारण उसमें उसके अनुभूति की किंचित मात्रा, भी न आने पायी थी। लोग उसे बनाते, और वह चुपचाप बैठा अपना काम करता रहता, मानो वह कुछ सुनता और समझता ही न हो। धीरे-धीरे उसके सहकारियों में एक आध की हिम्मत और बढ़ी और वे उससे प्रत्यक्ष छेड़-छाड़ करते। कभी-कभी तो ज़बानी मज़ाक को वे कार्यरूप में भी परिणत कर बैठते। पर उसका कुछ विशेष असर उस ब्राह्मण देवता पर कभी न हुआ। जब कोई उसके पीछे पहुँचकर उसके कंधे को पकड़कर ज़ोर से झकझोर देता, तो उसके मुख से कभी-कभी दो शब्द धीरे से निकल पड़ते, "इससे लाभ?"

मिस्टर यादव का दूसरा सिगरेट ख़तम हो चुका था। मैंने उनके हाथ में तीसरा सिगरेट देते हुए कहा, "भाई, अजीब आदमी था!"

सिगरेट नं० ३

मिस्टर यादव ने जल्दी से सिगरेट जलाते हुए अस्फुट स्वर से कहा, "बस सुनते चलो, टीका-टिप्पणी बाद में करना।", यह कहकर उन्होंने एक बार ज़ोर से लम्बी कश खींची और सिगरेट के सिरे पर चमकता हुआ बिन्दु गोलाकार होकर धीरे-धीरे उनके मुँह की ओर बढ़ने लगा। उन्होंने कहना आरम्भ किया, और नाक से धीरे-धीरे धुआँ निकालना।

"हाँ, तो इस प्रकार जब उसे उस दफ्तर में कुछ दिन बीत गये तो उसके साथियों का व्यवहार भी बदलने लगा। जब उन्होंने देखा कि उनके सारे प्रहार व्यर्थ गये तो उन्हें पश्चात्ताप भी हुआ और कुछ अपनी सभ्यता पर लज्जा भी। पहले वे समझते थे कि वह असभ्य और मूर्ख है, पर अब उन्हें ज्ञात हुआ कि वास्तव में उसमें केवल अपनी प्रतिष्ठा और पद का मिथ्या अभिमान नहीं है, पर यथार्थ में सज्जनता की मात्रा उसमें उनसे अधिक दिखाई पड़ती है। इस अनुभव के कारण उसके साथियों में कई तो उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखने लगे। कुछ भक्त कहलाने की हद तक पहुँच रहे थे। पर कुछ ऐसे भी बचे थे जो अब कुछ न कहकर केवल चुप रहते। यह सब कुछ परिवर्तन होने पर भी न कोई उसका मित्र बन सका, न कोई उसका दुश्मन। उसका व्यवहार वैसे ही भीरु, शुष्क और अकृत्रिम रहा जैसे आरम्भ में। अब लोगों के लिए वह उपहास का कारण न होकर एक रहस्य, एक पहेली बन गया। जो उसे पहले कुछ और समझे थे, अब उसे समझने की कोशिश करने लगे। पर उसे इससे कोई प्रयोजन न था। वह नित्य की भाँति सबसे पहले काम पर पहुँचता और सबसे पीछे दफ़्तर से बाहर होता।

"माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त वह सपत्नीक हमारे शहर में उसी महल्ले में रहने लगा जहाँ मैं रहता हूँ। उसकी स्त्री हिन्दू स्त्री थी। उसका अस्तित्व उसके पति से अलग न था। उसे स्त्रियों के स्वत्व का ज्ञान न था, यह तो नहीं कह सकते, पर इतना अवश्य था कि उसके स्वत्व और अधिकार उसके पति के स्वत्व और अधिकारों से कहीं टकराते न थे। हिन्दू घरों मे स्त्रियों की जैसी स्थिति होनी चाहिए वैसी ही उसकी भी थी। वह तो उस घर की मशीन का एक पुरज़ा मात्र थी। उसकी न अपनी अलग कोई दुनिया थी न अपनी अलग कोई स्थिति। उसे अपने हक के लिए लड़ते मैंने कभी न देखा। पर इससे यह कहना कठिन है, कि उसे कभी अपनी स्थिति पर असंतोष न हुआ हो। पति-पत्नी में प्रेम था या नहीं यह बड़ी कठिनाई से कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट है कि उनका संयोग 'प्रेम' या रोमांस का परिणाम न था। और न कभी वे प्रेमी-प्रेमिका के पद को प्राप्त हुए थे। इसके लिए उन्हें अवसर भी कहाँ मिल सकता था? थे तो वे दोनों जन्म से हिन्दू-कुल में उत्पन्न। उनका एक दूसरे से परिचय विवाह के पश्चात् हुआ था और ऐसी परिस्थिति में जब वे हिन्दू गार्हस्थ जीवन के अंग बन चुके थे। उन्हें तो गाड़ी का पहिया बनना पड़ा था जिसका एक दूसरे के बिना चलना असंभव था। और पहिये का अधिकार ही क्या है? गाड़ी चली तो पहिया चला। एक चला तो दूसरा—दूसरा चला तो पहिला। उसकी स्त्री रूपवती थी या साधारण सूरत-शक्ल वाली, इसे जानने की उत्सुकता सभी को होगी। पर हम तो इन सब पचड़ों में न पड़कर केवल यही कहेंगे कि वह थी उसकी स्त्री और वह था उसका पति। वह उसे सुन्दरी समझता था,

वह उसे सुन्दर समझती थी। जब ऐसी अवस्था हो, तो हमें उनके रँग-रूप पर मतभेद होने का कारण ही क्या हो सकता है ?

"उस क्लर्क का गार्हस्थ जीवन सुखी था, यह हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं, क्योंकि मैंने उस दम्पति में कभी मतभेद नहीं पाया। और उन जैसे लोगों में इसे पाना भी असंभव था। जहाँ परम्परागत समाज के नियमों के अनुसार कर्म-धर्म, अधिकार और स्वत्व का ठीक-ठीक विभाग और सामंजस्य हो, वहाँ मतभेद, विग्रह, कहल, दुख और संताप के लिए स्थान ही कहाँ हो सकता था ? अपनी स्त्री के साथ कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् उनके घटनारहित शांतिमय जीवन के आकाश में कुछ काल के लिए चिन्ता की काली घटा उठी—और वह थी उनके सन्तान-रहित होने की चिन्ता। हिन्दू-विवाह के उद्देश्य में सफल होने में जब उन्हें देर मालूम पड़ी, तो उन दोनों को चिन्ता हुई। इस हेतु पूजा-पाठ, व्रत-उपवास जो कुछ वे उचित समझते विशेष रूप से करने लगे। इसकी चिन्ता सब से अधिक उस क्लर्क की भार्या को थी। वह इसी से कुछ दुखी भी रहती। पति को चिन्ता तो थी, पर दुख न था। उसे अपने छोटे से घर में छोटे-छोटे बालकों को खेलते-कूदते देखने की अभिलाषा होती। उसमें पिता के भाव उत्पन्न होते पर उसकी स्त्री में माता के भाव अधिक उत्पन्न होते। उसे इसकी अधिक अभिलाषा होती कि मेरे पेट का बच्चा होता, मैं उसे पालती-पोसती और वह मुझे 'मा' कहकर पुकारता। मैं उसे प्रेम से अपनी छाती से लगा लेती। पति की अभिलाषा की पूर्ति तो मनुष्य के हाथों में भी थी, पर माता की साध तो ईश्वर ही पूरा कर सकता था।

"इस प्रकार जब पूजा-पाठ, नेम-धर्म से शीघ्र फल-प्राप्ति की आशा न हुई तो पति अपनी साध पूरी करने का साधन ढूँढने लगा। वह अपने पड़ोसी के बच्चे को खेलाता, उन्हें प्यार करता और कभी-कभी उनके लिए मिठाइयाँ लाता। संयोग से उसके किसी संबन्धी ने एक पुत्र और पुत्री छोड़ कर गोलोक की यात्रा की। उस क्लर्क ने उन दोनों बच्चों को अपने यहाँ लाने का विचार अपने स्त्री पर प्रकट किया। स्त्री से परामर्श करना पुरुष का धर्म था। मतभेद होते हुए भी उसमें अड़चन न डालना स्त्री का धर्म था। उसने वही उत्तर दिया जिसका हिन्दू-स्त्री को जन्म से पाठ मिलता है। अस्तु, पति देवता ने उन बच्चों को लाकर अपने यहाँ रक्खा। लड़की का नाम था सुभद्रा, लड़के का नाम था कृष्ण। वह थी पाँच साल की, वह था तीन वर्ष का। पहले तो वे बच्चे कुछ उदास रहते, पर बाद को प्रेम की गंध पाकर वे मगन रहने लगे। पहले पति ने उन्हें हिले लगाया। पीछे पत्नी भी उन्हें प्यार करने लगी। ज्यों-ज्यों पत्नी को अपनी ओर से आशा कम होती जाती त्यों-त्यों उसका प्रेम उन बच्चों में बढ़ता जाता। अन्त में वे बच्चे ऐसे रहने लगे मानो वे उन दोनों की अपनी संतान हों।

"इन बच्चों के आजाने से उस क्लर्क में मानो नवीन जीवन आगया, नई स्फूर्ति पैदा हो गई। अब शर्म्मा जी को रात-दिन उन बच्चों ही की चिन्ता रहती। उन्हें कैसे खिलाना चाहिए, क्या पहिनाना चाहिए, कैसे रखना चाहिए। उन्हें दूध अच्छा मिलना चाहिए। इसके लिए एक गाय ख़रीदी गई। लड़का एक दिन कुत्ते के बच्चे के लिए रोने लगा, तो एक कुत्ते का बच्चा उसके लिए पाला गया। लड़की पड़ोसी का तोता देख ललचाई, तो उसके लिए एक तोता शर्म्मा जी ने ला दिया। धीरे-

धीरे दोनों स्त्री-पुरुष उन्हीं बच्चों में रहने लगे। रात-दिन वे दोनों उन्हीं दोनों की चिन्ता में रहते। उनका गार्हस्थ जीवन अभी तक मानो अन्धकारमय, कर्तव्यहीन था। अब उसमें मानो इन बच्चों ने प्रकाश डाल दिया। अब उन्हें अपने कर्तव्य का ध्यान आने लगा और वे अब जीवन का आनन्द पाने लगे। अपनी थोड़ी-सी आमदनी में वे उन बच्चों के लिए जो कुछ कर सकते थे, करते थे। कभी-कभी तो उन्हें प्रसन्न रखने के लिए वे अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं तक को रोक रखते। धनाभाव के कारण कभी-कभी जब वे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति में रुकावट पाते, तब वे धन की चिन्ता करते थे। बेचारे शर्म्मा जी ने कुछ थोड़ा बहुत ऊपर का काम निकाला, पर उससे कुछ काम न चलता। बेचारा क्लर्क सोचता रहता कि बच्चों के लिए, यह करूँगा, वह करूँगा। पर जब सारे मंसूबे रुपये बिना असंभव होते तो बेचारा मन मे बड़ा उदास होता और सोचता रहता कि यदि कहीं से मुझे धन मिल जाय तो बड़ा अच्छा हो।

"डरबी की घुड़दौड़ की धूम थी। जिधर देखो उसी की चर्चा थी। लोग टिकट ख़रीदने के लिए लालायित थे। उस बेचारे शर्म्मा जी को इसका पता भी न होता यदि उसके दफ़्तर के बड़े बाबू उससे इसका ज़िक्र न करते। एक दिन जब उन्होंने मिस्टर शर्म्मा से उसके बारे में पूछा तो बेचारे शर्म्मा जी को उनकी बात ही समझ में न आई। पर जब उसके अन्य सहकारियों में से लोगों ने टिकट ख़रीदा और उससे होने वाले लाभ की आशाओं का खाका खींचने लगे, तो शर्म्मा को भी थोड़ा सा लालच हुआ कि लाओ मैं भी अपनी क़िस्मत आज़माऊँ। उसने औरों की देखा-देखी किसी प्रकार प्रबन्ध करके एक टिकट मोल लिया।

पर स्त्री से उसके विषय में कुछ चर्चा न की। उसे भय था कि शायद वह उस विषय में सहमत न होगी। जिस दिन से उसने टिकट ख़रीदा, वह हर वक्त यही सोचा करता कि यदि उसे दो लाख का पहला इनाम मिला तो क्या करेगा। अगर एक लाख का दूसरा ही मिला तो क्या करेगा। दूसरा नहीं, अगर पचास हज़ार का तीसरा ही मिला तो क्या करेगा। उसने दो लाख में अपना बजट बनाया, पर जब उसने सोचा कि मानो मुझे पहला न मिला तो उसने काट-छाँटकर अपने हवाई बजट को एक लाख में पूरा किया। पर यह ख्याल आते ही कि 'कौन ठिकाना मुझे तीसरा ही इनाम मिला,' उसे बड़ा दुख होता और वह बड़ा स्वार्थ-त्याग कर, बड़े दुख से, अपने काल्पनिक बजट की सीमा पचास हज़ार में बन्द रखता। इस तरह उसका नित्य बजट बनता, नित्य उसमें तरमीम होता, नित्य वह मन ही मन पास होता, और नित्य उसमें कुछ-न-कुछ हेर-फेर। मिस्टर शर्मा अब विचारों में अधिक डूबे रहने लगे। आफ़िस में रहते तो लिखते-लिखते क़लम रोककर न जाने क्या सोचने लगते। घर आते तो बच्चों की किसी फ़रमाइश पर कुछ मुस्कराकर सिर हिला देते। अपने घर के कामों में कुछ कम दिलचस्पी लेते। अब उनका गाय की सेवा में उतना मन न लगता, बच्चों को खेलाने के लिए कम समय मिलता, स्त्री की बातों का कम उत्तर देते। उनकी स्त्री पहले तो उनके व्यवहार में परिवर्तन देख कुछ चौंकी, पर जब देखा कि वे चुपचाप कमरे में बैठे कुछ लिख रहे हैं तो वह चुप मार गई। सोचा, कोई दफ़्तर का काम होगा। ज्यों-ज्यों घुड़दौड़ की तिथि नज़दीक आती जाती मिस्टर शर्मा की गम्भीरता बढ़ती जाती। पर उसने अपनी इस दुर्बलता को अपनी भीरुता की आड़ में छिपा रखा था। इसी लिए उसके मन की क्या

दशा थी यह वही जान सकता था। वह केवल अधिक चुप रहने लगा।

मिस्टर यादव ने तीसरे सिगरेट का टुकड़ा कटोरी में रखते हुए कहा, "लाइए हज़रत! चौथा सिगरेट और इस कहानी का मज़ेदार हिस्सा सुनिए।"

सिगरेट नम्बर चार

मिस्टर यादव ने सिगरेट जलाया, एक मिनट चुप रहे और लगे कहने, "हाँ, तो ज्यों-ज्यों लाटरी के खुलने के दिन करीब आते-जाते त्यों-त्यों वह क्लर्क महाशय चुप रहने लगे। उसके दफ़्तर के अन्य बाबू-गण जब हाल की बड़ी मेज़ के चारों ओर घिरकर अपनी-अपनी स्कीमें पेश करते तो वह बेचारा ब्राह्मण हज़ार कहने पर भी कुछ न बोलता। अगर किसी ने बहुत आग्रह किया तो कह देता—'अजी जब इनाम मिलेगा तो देखा जायगा।' उसके सहकारी अपनी उमंग में आकर उसे अपने मंसूबे सुनाते और कहते, 'मुझे इनाम मिला तो यह करूँगा, वह करूँगा।' वह यह सब बड़े उत्साह से सुनता और कुछ सोचता रहता।

"कुछ दिनों बाद एक दिन की बात है (शायद शनिवार का दिन था) वह सदा की भाँति सप्ताह के अन्त का सारा काम निपटाकर ज़रा देर में दफ़्तर से लौटा था। लौटते ही उसे एक तार मिला। उसने पढ़ा और उसे धीरे से अपनी डगमगाती हुई पुरानी मेज़ के टूटे दराज में चुप-चाप रख दिया। केवल रखते समय मानो उसने उस दराज़ में बन्द होने से इन्कार किया था। क्यों? नहीं कह सकते। पर शर्म्मा ने उसे ठोंक-पीटकर बन्द किया था। आज उसकी स्त्री को ऐसा मालूम हुआ मानो उसका पति नित्य के विपरीत कुछ अधिक प्रसन्न और कुछ कम गम्भीर है। पर उसने

उसका कारण जानने की चेष्टा न की। मिस्टर शर्म्मा ने अपने नित्य नियमानुसार हाथ-मुँह धोया, जल-पान किया और छड़ी उठाकर घूमने चल पड़े। छड़ी घुमाते, कुछ सोचते वे चलते-चलते नदी तट पर पहुँच गये। यहाँ पहुँचकर मानो उनकी निद्रा भंग हुई। देखा, पूर्व में पूर्णिमा का चाँद धीरे-धीरे निकल रहा है। उसका प्रतिबिम्ब मन्द-मन्द बहते हुए पवन के कारण विलोडित नदी के लहरों में नाना रूप धारण कर रहा है। दूर तक जहाँ निगाह पहुँचती थी धीरे-धीरे प्रकाश और शान्ति का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। मिस्टर शर्म्मा चमकते हुए रेतीले किनारे को लाँघकर तट पर बँधी डोंगी पर जा बैठे और लगे सोचने, 'लाटरी के इनाम के दो लाख रुपये मुझे मिलेंगे। दो लाख कितना होता है? मुझे तो अभी केवल पचास रुपये मिलते हैं। इससे मेरा काम कठिनता से चलता है। अच्छा, इन रुपयों से मैं घर बनवाऊँगा, लड़कों को पढ़ाऊँगा, स्त्री के लिए कुछ आभूषण खरीदूँगा—वह भी प्रसन्न होगी। इन सब में कितना ख़र्च होगा। अधिक से अधिक बीस हज़ार। पर दो लाख में तो दो सौ हज़ार होते हैं! बाक़ी एक सौ अस्सी हज़ार क्या होंगे? अच्छा, इसमें से कुछ रिश्तेदारों को बाँट दूँगा—मामा हैं, मौसी के लड़के हैं, साले हैं, सभी तो हैं। ख़ैर, इनके लिए दस हज़ार दे दूँगा। कुछ दान-पुन्न कर दूँगा। पिता का श्राद्ध धूम-धाम से कर दूँगा, माता की वर्षी धूम-धाम से कर डालूँगा। समझ लो इसमें चार हज़ार ख़र्च कर दूँगा। कुछ अनाथालय, पाठशाला आदि में ख़र्च कर दूँ। मान लो उसमें पंद्रह-सोलह हज़ार हो जायगा। फिर भी डेढ़ लाख बचते हैं! इससे तो अच्छा हो कि सब रुपया लगाकर जायदाद खरीद लूँ। मान लिया जायदाद ख़रीद ली, बड़ी सी जमींदारी ले ली। अब प्रबन्ध कौन करेगा? क्यों, ख़ुद मैं। पर इतना बखेड़ा मुझ से सपरेगा?

उसके लिए नौकर-चाकर रखने होंगे। एक मैनेजर रखना पड़ेगा। उसके लिए रहने को मकान भी चाहिए। साथ-साथ और भी छोटे-मोटे नौकर सिपाही अर्दली भी रखने पड़ेंगे। तो इसमें हर्ज ही क्या है? जायदाद से आमदनी भी तो होगी। पर आमदनी क्या सदा होती रहेगी? कहीं अकाल पड़ गया तो? कहीं बाढ़ आई तो? इसके लिए भी तो कुछ धन रख लेना पड़ेगा। पर इन सब बखेड़ों को देखेगा कौन? वही मैनेजर, मुझ से तो यह सब होने का नहीं। अपना दफ़्तर करूँगा कि यह सब! अजी दफ़्तर कहाँ? उससे तो इस्तीफ़ा देना पड़ेगा। जब मेरे पास ख़ुद इतना धन होगा तो क्या मैं पचास रुपये की नौकरी करूँगा? मेरा तो मैनेजर ख़ुद एक सौ पचास रुपया महीना पावेगा। तो आख़िर मैं क्या करूँगा? क्या करूँगा! अमीर लोग क्या करते हैं? मज़े में आराम—मोटरों पर घूमना, बँगले में रहना, सिनेमा-थियेटर, नाच-तमाशा, दावत-पार्टी आदि में दिन बिताना।

"यह सोचते-सोचते वह एक बार चिन्तित हो उठा और उठकर घर की ओर चला। रास्ते भर वह विचारों में मग्न था पर कुछ निश्चय न कर पाता था कि क्या करना चाहिए। इस प्रकार वह चुप-चाप घर में दाख़िल हुआ और अपने कमरे में बैठकर कुछ काल तक न जाने क्या-क्या सोचता रहा। स्त्री के पुकारने पर उसने चुप-चाप बैठकर थोड़ा बहुत खाया और फिर जाकर अपने कमरे में तख़्त पर लेट गया और लगा सोचने, 'आखिर अमीरों की भी कोई ज़िन्दगी है! बैठे-बैठे खाना मौज उड़ाना! पर इसमें हर्ज ही क्या है? जब मुफ़्त में मिला है तो क्यों न उसका आनन्द लें? उससे आराम करें? पर इस प्रकार की ज़िन्दगी से लाभ ही क्या? रहे वा न रहे! जब ख़ुद कुछ करना ही नहीं,

दूसरों के भरोसे मुफ़्त की कमाई उड़ाना है तो उनके रहने वा न रहने से लाभ ? उनको इसका श्रेय ही क्या ? और सच पूछो तो उनको जीवन का आनन्द ही क्या मिलता होगा ? दूसरों की आँखों में चकाचौंध तो अवश्य पैदा करते होंगे, पर आप तो सदा जला ही करते होंगे। जब स्वयं जलकर ही दूसरों को चकाचौंध करना है तो इससे अच्छा तो यही है कि जुगनू की भाँति अपने प्रकाश में स्वयं अपना रास्ता ढूँढना और अँधेरी रात की शोभा बढ़ाना। मनुष्य पैदा होता है, संसार में। उसमें उसे जीवन मिलता है, जीवित की भाँति जीने के लिए। वह प्रकृति के नियमों के अनुसार पैदा होता है, समाज के विधान के अनुसार पलता है, और फिर अपने पैरों पर खड़ा होकर जीवन का आनन्द लेता है। यदि वह जन्म से मृत्युपर्यन्त, दूसरों के भरोसे रहा, कभी जीवन के संग्राम का साक्षी न हुआ, कभी ज़िन्दगी का ऊँचा-नीचा नहीं देखा, कभी दुख-सुख का अनुभव न किया, तो वह जीवन ही क्या और उससे लाभ ? मान लें हम लक्ष्मी की गोद में उत्पन्न होकर, माया, विभूति और वैभव के साथ खेलकर बड़े हों, इन्द्रिय-सुखों के साथ मैत्री कर सारी उम्र गप-शप में काट दें, तो अन्त में हमारे जीवन का क्या मोल होगा ? हम हुए वा न हुए— इसमें क्या अन्तर होगा ? संसार को हमारे होने का क्या पता होगा अथवा हमें संसार का क्या सच्चा अनुभव होगा ? संसार का वास्तविक अनुभव तो उसे होगा जो भूख-प्यास, जाड़ा-गर्मी-बरसात, हर्ष-विषाद, अच्छे-बुरे, जीवन-मरण सभी का अनुभव स्वयं अपने पर निर्भर होकर करेगा। वह संसार को क्या समझेगा, जिसने उसे धन का चश्मा आँखों पर लगाकर देखा ? उसे तो अपने जैसा ही संसार दिखाई पड़ेगा। वह मनुष्य होगा वा मानवता से हीन मनुष्य-देही ?"

"यह सोचता हुआ वह एक बार काँप उठा और लगा लेट कर कुछ सोचने। उसकी आँखें लग गईं, और वह स्वप्न देखने लगा।"

सिगरेट नम्बर ५

"उसने देखा कि वह," मिस्टर यादव ने पाचवीं सिगरेट जलाते हुए कहा, "हाँ, तो वह स्वप्न देखने लगा। उसने देखा कि वह बैंक पहुँचा है। उसने दो लाख का चेक भुनाया है। वह अकेला है। वह सोचने लगा, 'कहीं लुट न जाऊँ।' आस-पास खड़े हुए आदमियों पर, जिन्हें कुछ क्षण पहले वह सभ्य समझता था, अब उसे संदेह होने लगा कि कहीं इनमें कोई मुझे लूटने का षड्यंत्र न रच रहा हो। वह घर की ओर लौटा बग़ल में नोटों का पुलिन्दा था। वह चला—इधर-उधर भय से देखता हुआ। कहीं कोई आदमी तेज़ी से आता हुआ दिखाई पड़ता तो उसे ऐसा मालूम होता मानो वह उस पर धावा मार रहा है। वह तेज़ी से चलने लगा। इधर-उधर देखता, डरता, लुकता, छिपता, हाँफता हुआ, वह घर पहुँचा। उसने एक ठँढी साँस ली। वह भागा हुआ अपने कमरे में पहुँचा। उसने अपनी मेज़ की दराज़ खोली, उसमें नोट का पुलिन्दा रखा; फिर निकाला और एक टूटी संदूक में रख उसमें ताला लगा कर, वह बैठ गया और लगा सोचने। उसकी स्त्री बीच में आपड़ी। उसने पूछा—'कहाँ गये थे?' वह बिगड़ खड़ा हुआ, 'मूर्ख औरत! कहाँ गये थे? कहाँ गये थे? यह तो न हुआ कि बाहर से आये हैं धूप में दौड़ते हुए, पानी देती कुछ जलपान देती। लगी पूछने, कहाँ गये थे, कहाँ गये थे? भाड़ में गये थे। बस जान बच गयी, यह समझो, नहीं लुट जाता। जान से हाथ धोना पड़ता। अपना भाग्य समझो जो सहीसलामत लौट आया।' स्त्री भौचक्की

हो गई। उसने कहा, 'आख़िर आज क्या आफ़त पड़ी थी जो ऐसा होता।' उसने डाँटा, 'हट गँवारिन। कुछ अक्ल भी है?' बच्चे दौड़े-दौड़े आये और लगे उसकी पीठ पर चढ़ने। लड़की लगी जेब टटोलने। वह झल्ला उठा। चपत जड़ दिये। दोनों रोते हुए मा के पास पहुँचे। मा ने उन्हें चुप किया और लगी कहने, 'आज उन्हें न जाने क्या हो गया है।' वह इस पर और बिगड़ा और लगा सोचने, 'इस औरत के साथ मेरा निबाह नहीं हो सकता, मैं दूसरी शादी करूँगा। शादी भी अपने मन की, चुनकर पढ़ी-लिखी। अमीर घर की लड़की से। मेरे पास काफी धन है। बड़े-बड़े घराने के लोग दौड़ते आवेंगे, खुशामद करेंगे। क्यों नहीं। पाण्डे जी के यहाँ की लड़कियाँ कैसी सुन्दर, सभ्य और पढ़ी-लिखी हैं। बस उन्हीं में से एक को चुन लूँगा। शादी ठीक हो गयी। वह इसकी तैयारी करने लगा। एक बँगला लिया, उसे सजाया। नौकर-चाकर, साज-सामान सभी आया। मोटर, घोड़ा, गाड़ी, सभी ख़रीदे गये। मोटर कैसी सुन्दर थी! बड़े साहब की क्या इससे बढ़ कर है! गाड़ी के घोड़े कैसे चपल, जानदार हैं। नौकर-चाकर कैसे बाअदब हैं। जिधर निकल जाते हैं सब झुककर सलाम करते ही दिखाई देते हैं। 'कोई है' कहते देर नहीं, चारों ओर से 'हुजूर' की आवाज़ आती है। पुकारो एक तो, हाज़िर होते हैं दस। कमरा कैसा सजा है। दरी-फ़र्श-साफ़ा, कोच, मेज़-कुरसी, पंखा, लेम्प। सोने का कमरा—वाह क्या कहना है! मुलायम गद्दे पर बैठ जाय तो कमर तक घुस जाय। चादर कैसी दूध सी साफ़ है। नहाने के लिए कैसा सुन्दर बाथ है। आँखें नहीं काम करतीं। क़द-आदम आइने, ठँडे-गरम पानी का इन्तज़ाम। हाँ, तो शादी की तैयारी होने लगी। बड़ी धूम-धाम, गाजे-बाजे, सवारी-शिकारी सभी का प्रबन्ध। पाण्डे जी के यहाँ से बड़ी-

बड़ी कीमती चीज़ें तोहफ़े में आईं। क्या कपड़े हैं। वाह, कैसी चाँदी-सोने की तश्तरियाँ हैं, आँखें नहीं ठहरतीं। कितने सज्जन आदमी हैं! इतने पर भी हाथ जोड़े खड़े हैं। शादी की तारीख़ नियत हुई। नवेद भेजा जाने लगा। बड़े-बड़े रईस, बड़े-बड़े वकील, ऐडवोकेट सभी निमंत्रित हुए। बारात चली, बड़ी धूम-धाम से द्वार-पूजा हुआ, बधाइयाँ बजीं। आदमी खचाखच भरे हैं। बैण्ड बज रहा है। शहनाई बज रही है। मारे शोर के कान फटे जाते हैं। शादी के लिए जाते हैं, शादी के लिए बधू आती है। उसका मुख दिखाई नहीं पड़ता। चमकती हुई रेशमी साड़ी के सिवा और कुछ नहीं नज़र आता। शादी होती है, कोहबर होता है, विदाई होती है, घर आते हैं। वह अपनी नई पत्नी से मिलने के लिए अधीर हो जाता है। पर्दा तो उतना नहीं है, पर पहला दिन है, कुछ संकोच होता है। जैसे-तैसे रात होती है। पल-पल युग के समान जान पड़ता है। सन्ध्या हुई, खाना-पीना हुआ, मित्रगण बधाई देकर खाकर-पीकर चले गये। नौकर-चाकर काम से छुट्टी पाकर ऊँघने लगे। वह उठा धीरे-धीरे मन में उमंग-आनन्द, बाहर संकोच-लज्जा। ड्रेसिङ्ग-रूम में कपड़े बदले और धीरे-धीरे शयनागार की ओर बढ़ा। उसके पैर न उठते थे, हर्ष से, उत्सुकता से, उन्माद से। वह चला। धीरे-धीरे उसने किवाड़ खोले। कमरे में अँधेरा था, उसने बटन दबाया। बिजली का प्रकाश मानो ऊपर से बरसने लगा। उसने इधर देखा, उधर देखा। कहीं कोई नहीं था। वह कुरसी पर बैठ गया और लगा प्रतीक्षा करने। कमरे के बगल का दरवाजा खुला। उसने हर्ष से, एवं लज्जा से, प्रेम से, उत्सुकता से, तिरछी आँखों से, देखा और उछल कर खड़ा हो गया। उसकी आँखें लाल हो गईं। उसका शरीर काँपने लगा, क्रोध से, निराशा से, घृणा से। उसने देखा, उसकी वही ब्राह्मणी,

वही देहाती स्त्री, उसी साधारण परिधान में सामने खड़ी है और पीछे छिपे उसके वही दोनों बच्चे आश्चर्य से उसकी ओर देख रहे हैं ! उसे उनकी ढिठाई पर क्रोध आ रहा था। उसने कड़ककर कहा तू 'यहाँ कहाँ ?' वह चुप-चाप खड़ी थी, दोनों बच्चे डर से उसके पीछे छिप गये थे। उसने फिर डाँटकर कहा, 'यहाँ क्यों आई ?' वह चुप-चाप खड़ी थी। वह क्रोध से पागल हो गया। उसने चिल्लाकर कहा, 'भाग दूर हो, यहाँ से।' मानो उन तीनों ने कुछ सुना ही नहीं। स्त्री उसे घूर रही थी। उसकी आँखें मानो लाल अंगारों की भाँति चमक रही थीं। वह झल्लाकर उठा, उसने डपटकर कहा, 'सुनती नहीं ! निकल यहाँ से।' मानो उसने सुना ही नहीं। उसने नौकरों की घन्टी बजाई, क्षण भर विह्वलता से दरवाज़े की ओर देखने लगा। पर कोई न आया। उसने फिर स्त्री की ओर मुड़कर ज़ोर से कहा, 'क्यों बहरी है क्या ? भाग ! दूर हो यहाँ से !' वह पत्थर की भाँति निश्चल थी उसकी आँखों से मानो आग निकल रही थी। बच्चे उसके पीछे उसकी साड़ी में मुँह छिपाये थे। उसने डर से अपनी आँखें अपने हाथों से मूँद लीं। उसका सिर चकराने लगा। वह दिवाल के सहारे टिक गया ! क्षण भर पश्चात् उसने आँखें खोली मानो वह नींद से जग रहा हो। उसने लैम्प के धुंधले प्रकाश को देखा। वह अपने कमरे में तख्त पर पड़ा था। उसका कलेजा धक्-धक् करने लगा। वह उठा —डगमगाते हुए पैरों से। और किसी तरह लड़-खड़ाता हुआ बरामदे तक पहुँचा। देखा, उसकी स्त्री चारपाई पर गहरी नींद में पड़ी थी। बच्चे पास ही पलँग पर सुख की निद्रा में पड़े थे। उसका हृदय उछल रहा था, उसकी आँखें भर आईं। उसने स्त्री की ओर प्रेमभरी दृष्टि से देखा, पास पहुँचकर दोनों बच्चों का चुम्बन लिया और फिर सारे घर में चक्कर लगाकर उसने देखा—सब जहाँ का तहाँ था।

उसका चित्त कुछ शान्त हुआ। वह अपने कमरे में फिर लौट गया।

"मेज़ की दराज़ खोल उसने एक पत्र लिखा और उसे अपनी जेब में रखकर वह फिर सो गया। अबकी बार उसने स्वप्न न देखा। वह सोया, स्वस्थ निद्रा में। चेहरे पर शान्ति थी, प्रसन्नता और सन्तोष की झलक थी। प्रातःकाल टहलकर लौटते समय पत्र डाक में छोड़ कर वह घर लौटा।

"दूसरे दिन दफ़्तर में उसके पहुँचने के पूर्व ही दैनिक-पत्र से, उसके लाटरी जीतने का समाचार सब को मिल गया था। सभी उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, सभी उसके स्वागत के लिए तैयार थे। कुछ लोगों ने सोचा उसे पार्टी दी जाय। कुछ ने उसकी बधाई में रुबाइयाँ लिखीं। किसी ने अपने मित्र को उसके स्थान के लिए अर्ज़ी देने का परामर्श दिया। किसी ने उससे गाढ़ी मित्रता करने का इरादा किया। कोई अपने पहले आचरणों पर लज्जित हो रहा था। कोई उसके भाग की सराहना कर रहा था। कुछ लोग अपने को कोस रहे थे। कुछ ईश्वर के न्याय में विश्वास करने लग गये थे। कोई ईश्वर को कोस रहा था कि उसने ऐसे को धन दिया जिसे उसकी आवश्यकता नहीं, जो उसका उपभोग नहीं करना जानता। कोई सोच रहा था कि उसे यह सलाह देंगे, वह सलाह देंगे, ऐसे धन को व्यय करो, ऐसे उससे सुख सामग्री एकत्र करो।

"मिस्टर शर्म्मा अपने नित्य नियम की भाँति दफ़्तर पहुँचे। देखा तो दफ़्तर में घुसते ही चपरासियों ने साष्टाँग प्रणाम किया, वे चकित हुए। देखते ही सहकारियों ने आलिंगन कर स्वागत किया, वे झेंप उठे। यह नया रँग-ढङ्ग देख उन्हें समझ में न आया माजरा क्या है। वे अपने स्थान पर पहुँचे तो लोगों ने घेर लिया। कोई कहने लगा, अजी हटाओ भी काम-धाम। अब तुम्हें करना ही क्या है। कोई दूसरा तुम्हारी

जगह आकर अपना सिर खपायेगा। क्या कहना है, भाग्य हो तो ऐसा! दोस्त, माफ़ करना, हम लोगों ने तुम्हें पहचाना न था। भाई क्षमा करना, हम लोगों के मन में कोई बुराई न थी। तुम्हें परेशान किया ज़रूर, पर सब हँसी में, विनोद में। ईश्वर की शपथ, हमारे मन में ईर्षा न थी, द्वेष न था। तुम्हारे प्रति सदा आदर था, प्रेम था।

"मिस्टर शर्म्मा चुपचाप सुन रहे थे। ज्यों-ज्यों लोग उन्हें घेर कर बातें करते, वे सकुचाते, झेंपते और कुछ कह न सकते। उनका जी ऊब रहा था, मानो आफ़त में पड़ गये हों, किसी नई दुनिया में आगये हों। इसी बीच साहब ने बुला भेजा, शायद उन्हें ख़बर लग गई थी। शर्म्मा जी चले साहब से मिलने। दिल धड़कने लगा। कोई ग़लती हो गई है। आखिर कौन सी गलती? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मिस्टर शर्म्मा साहब के पास डरते हुए पहुँचे। साहब अपने आफ़िस में कुर्सी पर डटे थे। मेज़ किताबों से लदी थी। मिस्टर शर्म्मा ने पहुँचते ही सोचा—कोई त्रुटि निकालेंगे, किसी बात पर डाँट सुनायेंगे। समझा था—पहुँचते ही साहब लेक्चर झाड़ना शुरू करेंगे—यह काम नहीं हुआ, वह काम नहीं हुआ। आप लोग कुछ करते नहीं। देखिए ज़रा मेहनत कीजिए, फलाँ काम नहीं हुआ, फलाँ काम बाक़ी पड़ा है। मैं रोज़-रोज़ कहाँ तक समझाऊँ। काम सब ठीक रहे, इसी में आपकी भलाई है, इसी में मेरी।

"पर यह सब आज कुछ न हुआ। शर्म्मा जी के पहुँचते ही साहब ने मुस्कराकर कहा, 'कहिए मिस्टर शर्म्मा! मैं आपको बधाई देता हूँ। मुझे तो यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे आफ़िस के एक आदमी को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसमें मैं अपनी बड़ाई

समझता हूँ। आप खड़े हैं? बैठिए, बैठिए। कहिए, अब आपके क्या इरादे हैं? आपने अब क्या करने को सोचा है।' यह कहकर वे मिस्टर शर्म्मा की ओर मुस्कराते हुए देखने लगे, और लगे अपनी ऐनक उतारकर साफ़ करने।

"मिस्टर शर्म्मा नित्य की भाँति चुप-चाप मेज़ के पास खड़े थे। वे बड़ी कठिनता से मुँह से केवल इतना कह सके, 'आपकी कृपा है।' साहब के पूछने पर कि क्या आप अपना इस्तीफ़ा लिखकर लाये हैं, मिस्टर शर्म्मा का सिर चकरा गया। वे अपने को भूल गये और कहने लगे, 'इस्तीफ़ा! इस्तीफा क्यों? मैं अपना काम करूँगा। आपको मेरे काम में कोई त्रुटि तो कभी मिली नहीं। अगर कोई बात हो तो कृपा कर बतलाइए, मैं भरसक उसे पूरी करने की कोशिश करूँगा।' साहब ने झेंपते हुए कहा, 'नहीं, नहीं, यह बात नहीं। आपका काम ठीक हो रहा है। मैंने इस्तीफ़ा के लिए यों पूछा कि अब आपको नौकरी करने की ज़रूरत तो है नहीं। आपको अब रुपये की क्या कमी है? मैंने आपकी जगह के लिए एक आदमी सोच रक्खा है।'

"मिस्टर शर्म्मा को सारी बातें समझ में आगईं। वे घबराकर कहने लगे, 'नहीं साहब ऐसा न कीजिएगा। मेरे काम में जब कोई ख़राबी नहीं है तो मैं अपना काम करूँगा। रहा रुपयों की बात सो मेरे पास रुपया कहाँ है? मुझे नौकरी की ज़रूरत क्यों नहीं है?' साहब चकराये। उन्होंने साफ़-साफ़ कहा, 'क्यों? आपको लाटरी का इनाम नहीं मिला? अख़बार में जो छपा है—क्या सच नहीं है?' वे उत्सुकता और आश्चर्य से कहने लगे और लगे मिस्टर शर्म्मा के मुँह की ओर देखने। मिस्टर शर्म्मा ने गंभीरता से कहा, 'ख़बर तो सच है, पर मैं ऐसे रुपये को लेकर क्या करूँगा? मैंने तो उसे हिन्दू विश्वविद्यालय को दे डाला। मुझे

नहीं चाहिए ऐसा मुफ़्त का धन।' उसके शब्दों में दृढ़ता थी, संकल्प था, आत्मविश्वास था। साहब क्षण भर के लिए स्तब्ध हो गये, फिर अपने को सँभाल कर लगे कहने, 'शाबाश आपने बड़ा काम किया! मुझे इस पर गर्व है कि मेरे आफ़िस के एक क्लर्क के ऐसे विचार हैं। अच्छा आप जा सकते हैं।' साहब चुपचाप कुछ लिखने लगे। शर्म्मा जी चुपचाप वहाँ से चल पड़े।

"बात कब छिपती है? सभी को मालूम हो गई—बड़े बाबू से लेकर चपरासी तक को। मिस्टर शर्म्मा अपनी जगह पर बैठे फ़ाइलों को सँभाल रहे थे। उधर दूसरे कमरे में सब लोग एकत्र होकर उसके आचरण की आलोचना कर रहे थे। अपने-अपने विचार सभी ने प्रकट किये। पर अन्त में सभी ने एक स्वर से कहा, 'अजी मूर्ख है, मूर्ख! यह ब्राह्मण बिलकुल मूर्ख है!'—"

मिस्टर यादव ने अपने पाँचवें सिगरेट का बचा-खुचा टुकड़ा बुझाते हुए कहा, "वह बेचारा क्लर्क मूर्ख था या ज्ञानी यह कौन निर्णय कर सकता है? मैं तो अब सोता हूँ।" यह कहकर वह कम्बल तान क्षण भर में खर्राटे लेने लगा।

मैंने उस रात नींद बुलाने की बहुत कोशिश की पर मेरे मन में रह-रहकर यही प्रश्न उठता था, "वह मूर्ख था या ज्ञानी इसका कौन निर्णय कर सकता है?" वह मिस्टर शर्म्मा—

कवि

वह युवा था। निर्धन, अनाथ था। सुन्दरता उसकी पैतृक सम्पत्ति थी। ब्रह्मचर्य का तेज उसके चेहरे पर फूटा पड़ता था। वसंत की वायु उसके अंतःकरण में कल्लोल करती थी। अज्ञात आनन्द से वह चंचल रहता था। नित्य वह गुनगुनाता हुआ उसी अट्टालिका के सामने से होकर, उसी मस्तानी चाल से निकलता था। उस भव्य प्रासाद को देख, उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो, वह केवल मुस्करा देता था। फिर न जानें क्या गुनगुनाता हुआ वह गंगा के तट की ओर प्रस्थान करता था। उसका अस्फुट गान केवल वही सुनता था, उसकी हृदय-तंत्री की मधुर झंकार केवल उसी के कानों में पड़ती थी। गंगा-तट से मध्यान्ह के समय वह लौटता था—उसी मस्तानी चाल से, उसी

प्रकार अपनी तूमड़ी पर ताल देता हुआ। अंतर केवल इतना रहता कि तूमड़ी की ध्वनि कुछ गम्भीर रहती। कभी-कभी उसमें का जल कुछ छलक उठता।

संसार का अस्तित्व उसे केवल एक बार समझ पड़ता, सो भी कब जब उसे भूख सताती थी। एकादशी का दिन था। प्रायः सभी हिन्दू इस दिन व्रत रखते हैं। वह हिन्दू था। माता-पिता के संसर्ग से उसने यह व्रत रखना सीखा था। साधुओं के सत्संग ने उसे इसका महत्त्व समझाया था।

बसंत की वायु मंद-मंद बह रही थी। प्रकृति ने नये सिरे से शृंगार किया था। देवी की सुन्दरता उसके हृदयपटल पर अद्भुत प्रभाव अंकित कर रही थी। उसका हृदय चंचल हो रहा था। उसकी आँखें प्रकृति की सुन्दरता देखने से थकती न थीं। उपवन में बैठा वह कोकिल की मधुर तान के लिए कान लगाये था। कुररी की करुण स्वरावली उस के हृदय में हूल सी पैदा करती थी। वृक्षगण मस्त होकर झूम रहे थे। उसके मानस में भावों की लहरें उठ रही थीं। भ्रमरों का गुंजार सुन वह गुनगुनाता था। उसका गुनगुनाना चंचरीकों की गुंजार की भाँति ही मधुर, पर अस्फुट था। कितनी देर तक वह इस प्रकार गुनगुनाता रहा। उसे इसका ज्ञान नहीं रहा। अनन्त 'काल' का सांसारिक माप उसके लिए बिडंबना थी।

❀ ❀ ❀ ❀

सूर्य देव अपनी यात्रा समाप्त कर थके-माँदे मानो प्राचीदिशा की गोद में विश्राम करने जा रहे थे। पश्चिमीय क्षितिज पर मख़मली सेज की लाली दिखाई पड़ने लगी थी। पक्षीगण इस महोत्सव पर कल-गान

करने लगे थे। संध्या का आवरण विश्व को धीरे-धीरे अपने अंचल में छिपा रहा था। द्विजगण भी धीरे-धीरे अपने बसेरे में पहुँचने लगे थे। वनस्पति-संसार शांत सागर में निमग्न हो रहा था। निशीथ की निस्तब्धता फैल चुकी थी।

वह अशांत हो उठा। चन्द्रदेव मुस्कराते हुए क्षितिज पर से झाँकने लगे थे। वह कल्पना के लोक से खिसककर मर्त्यलोक में आ गिरा। उसकी स्वप्न निशा में मानो प्रभात हो उठा। भूख उसे सताने लगी। उदर पोषण के निमित्त उसे चिंता हो उठी। वह उठ बैठा और चल पड़ा उसी अट्टालिका की ओर। द्वार पर पहुँच उसने यथाभ्यास एक बार ऊपर देखा—जाने किसे उसकी उत्सुक आँखें ढूँढ रही थीं। कोई उत्तर न पा, किसी को न देख वह परिचित की भाँति प्रांगण में प्रविष्ट हुआ। आँगन में पहुँच उसने पुकारा उसी भाँति मधुर शब्दों में, "मा! भोजन मिले!" एक बार उसने फिर पुकारा और फिर बैठ गया, उस आँगन के धुले हुए पत्थर पर पलथी मारकर, और लगा फिर झूम-झूमकर जाने क्या गुनगुनाने—अपने जंघों पर ताल देता हुआ।

सीढ़ी पर किसी के कोमल चरणों की आहट सुनाई दी। किंकिणी और नूपुर की मधुर ध्वनि उसके कानों में पड़ी। उसके अस्फुट गान को वह मानो वीणा का सहयोग दे रही थी। वह अपने को भूल सा गया। उसकी गुनगुनाहट वसंत के नव चंचरीक की कमलों को खिलाने-वाली गंभीर-मधुर-संगीत-स्वरावली में परिणत हो उठी।

उसने ध्यानमग्न हो चकित—विस्फारित नेत्रों से देखा। बिजली के प्रकाश में जगमगाती हुई एक सुन्दरता की मूर्ति उसके सामने खड़ी थी। उसका यौवन वसन्त की मनमोहिनी ऊषा की भाँति था। विधवा

थी—उसके सुन्दर भाल पर सौभाग्य की सिन्दूरमयी रेखा क्षण भर के लिए आकर विलीन हो चुकी थी। उसके उदय-अस्त का ज्ञान उसे अभी तक न हो पाया था। समाज की प्राणघातिनी उस प्रथा ने उसके जीवन का मार्ग उसके अनजान में पहले ही से कंटकमय बना दिया था। पर वह प्रसन्न थी। अज्ञानता उसकी प्रसन्नता की जननी थी।

उसकी आँखों से पातिव्रत का तेज निकलता था। उसके कोमल मुख पर सौम्यता और सुकुमारता खेल रही थी। उसके मानस की चंचलता, उसकी लज्जा और कुल-मर्यादा की सीमा को उलंघन करने वाली न थी। वह मुग्धा थी, अज्ञातयौवना थी, पर विधवा थी। अपने मन की चंचलता का कारण वह न जान सकती थी, और वह किसी से पूछ भी न सकती थी।

उसका पिता धनीमानी पुरुष था। यद्यपि लड़कपन में उसके जीवन का वैधव्य-विधान हो चुका था पर अकेली संतान होने के कारण माता का उस पर अपार स्नेह था। विधवा थी तो क्या, पर वैभव की बाहरी ठाट-बाट की दासता से उसके माता-पिता उसे मुक्त न कर सकते थे। एकादशी के दिन एक ब्राह्मण को खिलाकर खाना उसका धर्म था। यह धर्म था, क्यों था। इसकी जाँच उसने कभी न की थी। उसने ब्राह्मण युवक की टेर सुनी। उसकी वाणी से वह परिचित थी। माता काम में व्यस्त थी। दासी अनुपस्थित थी। वह फलाहार की थाली लेकर चल पड़ी। क्यों? पर वह रोक न सकी अपने को। उसका हृदय उछल रहा था। क्यों उछल रहा था? वह क्या समझती। पर वह उतरी सकुचाती हुई, धीरे-धीरे सोपान पर

पैर रखते हुए। उसने अंतिम सीढ़ी पर पैर रक्खा। उसकी दृष्टि उस युवक पर पड़ी। वह पलथी मारे जाने किस विचार में मग्न था। उसने उसे देखा, देखती रही, उसकी चंचलता एक बार उठी, फिर जाने कहाँ छिप गई। उसका शरीर शिथिल होने लगा। उसके पैर लड़खड़ाये। उसने अपने को सँभाला। युवक के सामने थाली रखकर वह कठिनता से कह सकी, "लीजिए फलाहार प्रस्तुत है!"

वह चौंका, मानो घोर निद्रा में निमग्न था। उसने गर्दन ऊँची की, आँखें उठाईं। सामने स्वर्गीय सौन्दर्य की साक्षात अद्भुत प्रतिमा खड़ी थी। निश्चल निर्निमेष। उसने देखा अचल अपलक आँखों से। उसने गर्दन झुका ली। मन-ही-मन प्रणाम किया, ध्यान किया देवी अन्नपूर्णा की उस दिव्य मुद्रा का, और मुग्ध हो गया वह उस मानवी सौन्दर्य की प्रतिमा पर। वह क्षण भर निश्चल बैठा रहा और समझने की चेष्टा करने लगा—अपने अंत:करण में मचे उथल-पुथल को। वह ठगमारी खड़ी थी, निर्विचार, निर्निमेष और निश्चल!

उसने थाली खिसका दी। वह उठ बैठा। उसकी भूख मानो तृप्त हो चुकी थी। उसने एक टक देखा, सिर से पैर तक देखा—झुककर प्रणाम किया और लौटकर गुनगुनाता हुआ चल पड़ा प्रांगण से बाहर। वह घबरा उठी और भागी सीढ़ियों से, शीघ्रता से घबराई हुई। उसके कारे-सटकारे केश उसके पीछे लहरा रहे थे, मानो अज्ञान के काले बादल उसका पीछा कर रहे हों।

युवक घर की ओर चला, अपनी झोपड़ी की ओर। उसकी मुद्रा गंभीर थी, मलिनता उसके आनन पर आक्रमण कर रही थी। उसके

हृदय में रह-रहकर एक अज्ञात पीड़ा उमड़ रही थी। उसके मानस में उथल-पुथल मचा था। वह धीरे-धीरे चलकर अपनी टूटी झोपड़ी के द्वार पर पहुँचा। आह! आज उसे यह झोपड़ी श्मशान सी प्रतीत हो रही थी। यही इसके पूर्व उसके लिए कवियों के कल्पित प्रासाद के तुल्य थी।

युवक फिर कभी नगर में दिखाई न पड़ा। नागरिकों को इसका ध्यान भी न हुआ। नगर के जीवन में मानो कोई घटना ही न हुई। हाँ, यदि किसी के मानस में अप्रकट लहरें उठीं वा उठती रहीं होंगी तो वह उस विधवा के, जिसका नाम करुणा था। पर उसने कभी इसकी चर्चा न की। केवल मन में मुरझाती रही उस युवक के दर्शनों के लिए। लालायित थी उसकी मधुर वाणी सुनने के लिए। जानें कितने बार, दिन में कै बार वह झरोखे से राजमार्ग की ओर झाँकती, मन-ही-मन उस युवक की कल्पना करती, उसके लिए निशीथ की निस्तब्धता में विसूरती, रोती। पर उसकी झलक तक उसे फिर न मिली। वह विधवा मन में विरहिणी बन गई। वह विरही हुआ या नहीं—इसकी किसे ख़बर थी।

❀ ❀ ❀ ❀

वर्षों बाद उस नगरी के नागरिक आपस में शंकित नेत्रों से चर्चा करते हुए देखे गये। कोई कहता, 'आज अर्धनिशा में मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो नगर के दक्षिण की आम्रवाटिका में कोई वीणा पर कुछ गा रहा हो।' दूसरे ने कहा, 'अजी! मुझे भी एक दिन ऐसा सुनाई पड़ा मानो गङ्गा की उस पार की बालुकामय भूमि के निकट झाऊ के झुरमुटों के बीच से संगीत-लहरी गंगा के विशाल वक्षस्थल पर खेलती हुई तट पर टकरा रही हो।' तीसरे ने भी इस बात का समर्थन करते हुए कहा,

कि उसने भी संध्या समय पूर्णिमा का प्रतिबिंब देखते हुए तट पर बैठ कर ऐसा ही एक करुण आलाप सुना है। सभी अपना-अपना अनुभव सुनाकर इस बात का समर्थन करते कि समय-समय पर जाने कब किधर से किसी के गाने और वीणा बजाने का स्वर सुनाई पड़ जाता है। पर कोई यह निश्चय न कर पाता कि कौन और कहाँ बैठकर, कब गाता है।

नागरिक किसी निश्चय पर पहुँचने में असमर्थ हो कुतूहल-ग्रस्त, शंकित और आश्चर्य में डूबते-उतराते थे। कुछ दिनों तक यह चर्चा के रूप में रही। फिर कूतूहल ने इस पर विचार करने पर विवश किया। बहस हुई, मंत्रणा हुई, उत्सुकता बढ़ी, साहस जगा, फिर कुछ लोगों ने संगीत के उद्गम का पता लगाने का संकल्प किया। पर संकल्प केवल संकल्प होकर रह गया। अंत में लोग आलस्यवश तरह-तरह का समाधानकर चुप हो गये। समाधान ने आलस्य को संतुष्ट तो कर दिया पर हृदय की आशंका को वह न दबा सका।

❀ ❀ ❀ ❀

कुंभ का मेला लगा। देश के कोने-कोने से लोग इस अवसर पर त्रिवेणी की पुण्यभूमि में धमार्थ आ पहुँचे। कितना जन संकुल था— कौन बतला सकता है। चारों ओर 'कल्पवासियों' साधुओं और यात्रियों के निमित्त पर्णशालाएँ बन गई थीं। दिन भर की चहल-पहल के पश्चात्, पहर रात के पश्चात् त्रिवेणी तट फिर ज्यों का त्यों शान्त हो जाता, थके-माँदे सभी सरदी में सिहरते हुए निद्रा का आह्वान करते। उस समय जाने कहाँ से ऐसी स्वर्गीय संगीत की स्वर-लहरी जान्हवी की लोल लहरों पर लोटती हुई इस पार अकार टकाराती। उसे सुनकर जागृत

आत्माएँ आनन्द से नाच उठतीं। सोती हुई सुख की निद्रा में सो जातीं। दो एक दिन किसी ने इस पर ध्यान न दिया। फिर लोग एक दूसरे से इसके विषय में पूछने लगे।

करुणा ने भी सुना। वह अब वृद्धा हो गई थी। वैधव्य की लम्बी यात्रा का विषम पथ वह पार कर चुकी थी। समाज के कठोर शासन का उसने बड़ी भक्ति से निर्वाह किया था। व्रत, नेम और आचार का पालनकर यद्यपि उसने अपने शरीर का बलिदान कर दिया था। पर उस पर मण्डराती हुई सती की सुषमा की दीप्ति वह बुझा न सकी थी। 'लोगों' की आँखों से यह छिपा न था। हाँ! यदि छिपा था तो उसके अंतःकरण में विरह की वह चिनगारी, जिसे वह लाख प्रयत्न करके बुझाना चाहती थी। पर वह बुझती न थी। संभव है यह उसके बस की बात न रही हो। पर वह विरह की चिनगारी बुझी न थी, यह निश्चय है। यह उससे भी छिपा न था।

करुणा 'कलपबास' करने आई थी। वह साधू महात्माओं के दर्शन में अधिक मन लगाती। शायद ही कोई जटाधारी, भस्मधारी, मुंजमेखला पहनने वाला साधू बचा हो, जिसके चरणों में उसने सिर न नवाया हो, जिससे उसने मोक्ष पाने की अभिलाषा न प्रकट की हो, जिसे उसने कुछ न अर्पण न किया हो—चरस और भाँग-बूटी के लिए। लोगों ने उसमें जहाँ यह विशेषता देखी, वहाँ कुछ लोगों ने यह भी देखा कि वह एक साधू का एक बार दर्शन पाकर फिर कभी उसके दर्शनों को न जाती। वह ऐसा क्यों करती है? उन साधुओं में वह किसे ढूँढना चाहती है?—कौन उत्तर देता इसका, सिवा करुणा के।

माघमेले में 'माहत्मा' के दर्शनों के लिए सभी उत्सुक थे। उस

पार उनके दर्शन के लिए आबाल-वृद्ध-वनिता सब दौड़ पड़े । लौटकर सभी के मुख पर उस दिव्यपुरुष के रूप की चर्चा थी। किसी ने कहा, 'कैसा सुन्दर रूप है, कैसा प्रशस्त भाल और कैसी सन-सी सफेद दाढ़ी और जटा है। देखने में इतनी आयु होने पर भी अभी युवा सा लगता है। कैसी मधुर वीणा बजाता है। कैसा स्वर और आलाप है। पर वह किसी से बोलते नहीं, किसी की ओर देखते नहीं। आँखे मूँदकर मस्त गाया करते हैं। उनकी उँगलियाँ वीणा के तन्तुओं में ऐसी खेलती हैं, मानो लहरों पर मछलियाँ।'

करुणा ने भी 'महात्मा' का समाचार सुना। वह दर्शनों के लिए आतुर हो उठी और चल पड़ी। करुणा भीड़ के साथ गंगा के उस पार महात्मा की निराली एकान्तमय कुटी की ओर चली जा रही थी। उत्सुकता उसे लिए जा रही थी। पर उसका हृदय मानो अज्ञात भय वा आनन्द से विह्वल हो रहा था। उसे आशंका हो रही थी कि कहीं उसका धड़कता हुआ हृदय एक दम धड़ककर बन्द न हो जाय। पर उसने अपने को सँभाला और हृदय पर पत्थर रखकर, इन्द्रियों पर अकुंश रखकर, वह भी चली महात्मा के दर्शनों को।

महात्मा की कुटी गङ्गा के उस पार झाउओं के घने झुरमुट में बनी थी। विस्तृत बालुकामय प्रदेश पारकर वहाँ पहुँचना पड़ता था। करुणा पहुँची। लोग वहाँ पहले ही से एकत्र थे। चारों ओर शान्ति का साम्राज्य था। कहीं कोई पत्ता न खड़कता था। यहाँ न धूईं थी, न गाँजे की चिलमें, न चिमटा न बहुरूपियों का परिधान। महात्मा के शुभ्र शरीर पर भस्म का लेप न था, उसके माथे पर रामनामियों का नम्बर न था। महात्मा निश्चल, भावनिमग्न बैठे थे। सिर पर अचल तुहिन-राशि सी

श्वेत जटा सूर्य की प्रातःकालीन किरणों में स्वर्णमयी हो रही थी। उनकी लम्बी सन सी सफ़ेद दाढ़ी उनके वक्षस्थल को ढक रही थी। शरीर पर श्वेत परिधान था, कँधे पर वीणा की तूमड़ी थी। वे अपने को भूलकर, संसार को भुलाकर गा रहे थे। उनके गले का मधुर आलाप जाह्नवी के विस्तृत प्रशान्त वक्षस्थल को प्रकंपित करता था। वीणा के सुन्दर तारों से उनकी चतुर उँगलियाँ क्रीड़ा कर रही थीं। उससे निकली हुई स्वर-लहरी आत्म-विस्मृति फैला रही थी। समस्त वातावरण में एक अद्भुत प्रभाव व्याप्त हो रहा था। हृदय आनन्द-सागर में डूबता-उतराता था। लोगों के कान सुधा पान कर रहे थे, आँखें मोती बरसा रही थीं। प्रकृति नीरव हो रही थी।

महात्मा तन्मय होकर गा रहे थे। लोग तन्मय होकर सुन रहे थे। इसी निस्तब्धता में एक वृद्धा अपने को सँभाल कर एकटक महात्मा के मुख की ओर देख रही थी। उसकी आँखें विस्फारित थीं, आर्द्र थीं, करुण थीं। वह कठिनता से क्षण भर इस प्रकार देख सकी। उसकी आँखें बन्द हुईं, उसने मानो अपने को सँभालने की चेष्टा की। वह सँभली, जैसे दीपशिखा बुझने के पहले एक बार प्रज्वलित हो उठती है। वह धीरे-धीरे महात्मा को एक टक देखती हुई आगे बढ़ी। पास पहुँचकर वह बैठ गई, उसने श्रद्धा से साष्टाँग दंडवत किया। उपस्थित लोग, आँखें मूँदे तन्मय होकर महात्मा का गान सुन रहे थे। किसी ने उसे झुकते न देखा।

उस वृद्धा ने दण्डवत करते समय महात्मा के चरण-स्पर्श किये थे। महात्मा के भावुक नेत्र खुले। उसने चारों ओर परिचित सी दृष्टि डाली। सामने वृद्धा को देख वे चौकीं, पर उसकी आँखों से

मिलते ही निश्चल हो उठीं। दोनों ने मानो एक दूसरे को पहचाना था। दोनो के नेत्र इस मधुर-मिलन पर मानो बन्द होना ही न चाहते थे। यह अवस्था क्षण भर ही रही। दोनों के होठों पर मुस्कराहट की रेखा उदय हुई। गात्र शिथिल हो चले।

❀ ❀ ❀ ❀

महात्मा का गान रुक गया। वीणा के तार टूट चुके थे। उपस्थित श्रोताओं की तन्मयता टूटी। लोगों ने आश्चर्य से देखा, महात्मा के निष्प्राण शरीर के चरणों में एक वृद्धा का मृत शरीर पड़ा है।

कवि और करुणा, इस मधुर मिलन का आघात न सह सके थे। कौन कह सकता है दोनों की आत्माएँ इस अधम लोक से प्रस्थान कर उस लोक में स्वर्गीय संगीत की सृष्टि न कर रही होंगी ?

वह करुणा थी। वह कवि था।

मुन्शी जी

मुन्शी जी मोहर्रिर थे, रजिस्टरी के। जाति के कायस्थ थे, अपने को चित्रगुप्त के पुत्रों में से किसी एक का वंशज बतलाते थे। थे पुराने वज़य के—प्राचीन परिपाटी, सनातन की रूढ़ियों का पालन करने वाले। मझोला क़द, साँवला रङ्ग, दुबले-पतले आदमी थे। सदा वही चपकन, वही लखनवी घुट्टने और वही सलीमशाही जूते पहनते, उसी प्रकार पट्टे रखते; वही एक ऐनक लगाये सदा लोगों ने उन्हें घर-बाहर देखा। उनमें न कभी परिवर्तन हुआ, न कोई फ़र्क आया। सदा एक वही रँग, वही एक ढङ्ग।

मुन्शी जी अपने धुन के पक्के थे। जो बात उठाते थे, जन्म भर उसे छोड़ने का नाम न लेते। सवेरे उठते, नहा-धोकर पाठ करते,

सामने के शिवालय में जल चढ़ाते, सूर्य्य को अर्घ देते। दिन भर दफ़्तर करते। संध्या को गप-शप, नशा-पानी। पक्के कायस्थ थे, अपने धर्म के पक्के। यम द्वितीया के दिन बड़ी धूम-धाम से क़लम-दावात की पूजा करते, चित्रगुप्त का चित्र बनाते। आचार-विचार उनका द्विजों से कम न था पर जनेऊ का उन्हें शौक़ न था। जब कायस्थों की वर्ण-व्यवस्था पर विचार होने लगा, मुन्शी जी को लोगों ने सलाह दी, "यदि चौथे वर्ण से बचना चाहते हैं तो जनेऊ धारण कर लीजिए।"

मुन्शी जी इस पर झल्ला उठे। बोले, "जनेऊ पहनने से कोई द्विज होता है? उत्तम वर्ण होता है—आचार-विचार से। पैसे का जनेऊ किसी को ऊँचा-नीचा नहीं बनाता।" लोगों ने बहुत समझाया पर वे अपने धुन के पक्के थे। किसी की कब सुनने वाले।

❀ ❀ ❀ ❀

मुन्शी जी का विवाह बचपन में हो चुका था। माता-पिता ने मरने के पूर्व अपना कोई कर्तव्य अधूरा नहीं छोड़ा था। वे तो अपना सब धर्म-पालन कर सुख से स्वर्ग सिधारे, पर मुन्शी जी को संसार में अपने पैरों खड़े होने की समस्या हल करनी पड़ी। बेचारे थोड़े ही पढ़े-लिखे थे। बचपन में करीमा रटी थी, थोड़ी-बहुत ख़ालिकबारी पिता ने याद करा दी थी। लड़कपन में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मदरसे में दर्जा चहारुम पास किया। मिडिल तक पहुँचते-पहुँचते अनाथ हो गये। अब रोटी का सवाल सामने आया। बेचारे को बहुत ठोकरें खानी पड़ीं। थे मेहन्ती, मिलनसार और भाग्यवाले। बिरादरी वालों ने मदद कर दी। रजिस्टरी में मुहर्रिरी मिल गई। कुछ दिनों अप्रेंटिसी की। कुछ तजुर्बा हुआ। तब बीस रुपया माहवारी पर नियुक्ति का पत्र मिला। पत्र पाने के

पहले ही घर में पुत्री ने जन्म लिया। पहली नौकरी थी, पहली संतान थी। पति-पत्नी दोनों फूले न समाये। अपने भरसक कुछ उठा न रक्खा। दावतें, गाना-बजाना, देना-लेना सभी कुछ हुआ।

मुन्शी जी अब आनन्द से दिन बिताने लगे। बँधी तनख्वाह मिलती थी, कुछ ऊपर से मिल जाता। घर में दो ही प्राणी थे। खाने-पीने की कमी न पड़ती थी। पर यह सदा न रहा। लड़की उतनी ही छोटी न रही। वह धीरे-धीरे बढ़ने लगी, साथ-साथ लगी बढ़ने माता-पिता की चिन्ता। मुन्शी जी लड़की को बहुत प्यार करते थे। पहली संतान और अकेली, फिर माता-पिता का प्रेम अधूरा क्यों हो ? जब कभी पति-पत्नी बैठकर लड़की का खेल-कूद हँसी-विनोद देखते तो आपस में कहते, "रानी बेटी का विवाह राजा के यहाँ होगा।" मुन्शी जी रोब में कह जाते, "ऐसा घर ढूँढूँगा कि हमारी रानी बेटी रानी की तरह रहे।" कह जाने के पश्चात् रह-रहकर उनके मन में यह बात उठती, "आखिर यह सब होगा कैसे ?" यह अप्रिय विचार मुन्शी जी अपने ही तक रखते, वरन् उसे अपने मन में भी भरसक आने न देते। क्या करते सोचकर ? जो भाग्य में होगा देखा जायगा। जहाँ अपना वश नहीं, वहीं हम भाग्य का सहारा लेते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

लड़की धीरे-धीरे बढ़ने लगी। धीरे-धीरे वह घर का काम-काज सँभालने लगी। सीने-पिरोने लगी। पर उसे काले अक्षर से भेंट न हुई। मुन्शी जी लड़कियों को पढ़ाने के बड़े विरोधी थे। महल्ले में लड़कियों का एक मदरसा था, पर मुन्शी जी को वह चकले से भी अधिक खटकता था। जब कोई लड़की के पढ़ाने-लिखाने की बात छेड़ता तो

मुंशी जी बिगड़ खड़े होते, "यह भी कोई भलमनसाहत है ? भले घर की लड़कियाँ पढ़-लिखकर क्या करेंगी ? उन्हें नौकरी करनी है ? वकालत करनी है ?" पड़ोस में एक नये-रोशनी के सज्जन रहते थे। मुन्शी जी उनकी हँसी उड़ाया करते, पर पड़ोसिन से मुन्शी जी की पत्नी का प्रेम था। पड़ोसिन पढ़ी-लिखी थीं। उनकी बातें मुन्शियाइन को कुछ अच्छी लगती थीं। एक दिन मौक़ा पाकर उन्होंने मुन्शी जी से कहा, "लल्ली अगर कुछ पढ़-लिख लेती तो अच्छा होता। कुछ गाना-बजाना सीख लेती तो क्या बुराई थी ? पड़ोसिन की लड़की राधा कैसा टें-टें पढ़ती है। कैसे सुरीले स्वर में गाना गाती है। कहने को आठ ही वर्ष की है, पर हारमोनियम और सितार बजाने में इनाम पा चुकी है। आप क्यों नहीं इस पर कुछ ध्यान देते ?"

मुन्शी जी चुप-चाप भोजन कर रहे थे। बात टालना चाहते थे, पर जब मुन्शियाइन ने कई बार वही बात दोहराई तो एकाएक मुन्शी जी के ज़ब्त का बाँध टूट पड़ा। वे आपे से बाहर हो गये। लगे बकने, "सोहबत का असर हुए बिना नहीं रह सकता। दो-चार दिन साथ बैठीं और रँग गईं नये रँग में। तुम्हें शर्म नहीं आती ऐसी बातें करते ! अपनी जाति की ओर देखो, अपनी बिरादारी का ख्याल रक्खो— लोग क्या कहेंगे ? तुम्हें पसंद है अपनी लड़की को सरे बाज़ार स्कूल भेजना, मरदों से गाना-बजाना सिखवाना ? तुम उसे गृहस्थ के घर भेजोगी या तुम्हें उससे लेक्चर दिलाना है, वकालत करानी है ? क्या उसकी कमाई खाना चाहती हो ? उसे नचाना चाहती हो ? छी ! छी ! अपनी ही संतान के बारे में यह सब सोचना ! राम राम ! शिव ! शिव !"

मुन्शियाइन डर गईं। यों भी डरती थीं, पर अब तर्कों के सामने

निरुत्तर हो गईं। उन्हें अपने प्रस्ताव पर अभी तक स्वयं विश्वास न था। वे मैदान हार गईं। पर दुःखी न हुईं, वरन् उन्हें दुःख हुआ इसका कि ऐसी अनुचित बात उनके मुख से निकली कैसे। बेचारी अपराधिनी की भाँति चुप हो गईं। मुन्शी जी उन्हें निरुत्तर देख शान्त हो गये। उन्हें अपने क्रोध आने पर पछतावा होने लगा। उन्होंने फिर प्रेम से, अनेक प्रकार तर्क लगाकर समझाया, कि लड़की को पढ़ाना-लिखाना—इस बात की कल्पना किसी भी भले आदमी को न करनी चाहिए और विशेष कर कायस्थों को। बेचारी मुन्शियाइन ने इसे पाठ की तरह याद कर लिया। फिर कभी किसी ने लड़की को पढ़ने-लिखने की बात न छेड़ी।

लड़की बढ़ती गई, जैसे संसार की सभी चैतन्य वस्तुएँ बढ़ती हैं। वह विवाह की अवस्था के निकट पहुँची—उस अवस्था के निकट जिसे सनातनी लोग 'विवाह के योग्य' अवस्था बतलाते हैं, अर्थात्—आठवें वर्ष को। आधुनिक विचार के लोग इस पर हँसेंगे, इसे असम्भव समझेंगे। पर हम उन्हें पंडितों के शास्त्र की उक्ति सुनाते हैं—"अष्टवर्षा भवेत गोरी दशवर्षा च रोहिणी ········ ··" अब शास्त्र-प्रमाण इससे अधिक क्या होगा ? हमारे मुन्शी जी इस शास्त्र के विरुद्ध आचरण करने के पक्ष में न थे। वे लड़की की शादी ढूँढने लगे। अच्छा घर, अच्छा वर—उनका ध्येय पहले से था। दोनों एक साथ मिलना असम्भव था और उनमें से एक के लिए भी मुन्शी जी की बिसात न थी। कहाँ से लाते—इतना धन उन्हें खरीदने के लिए। अगर लड़का हाईस्कूल पास है तो दो हज़ार चाहिए, अगर घर 'ख़ानदानी' है, कुछ जायदाद है, तो पाँच हज़ार चाहिए। बीस रुपये महीने के मुन्शी जी

इतना दाम सुनकर हताश हो जाते। फिर भी उन्हें आशा थी कि सभी ऐसे कठोर न होंगे, सभी ऐसे अन्यायी न होंगे। आशा हमारे जीवन की संजीवनी है।

मुन्शी जी निराश न हुए। वर्षों घर-बार ढूँढते रहे। पर बिना पैसों के लड़की के लिए न घर मिलता दिखा, न कहीं कोई बर नज़र आया। अपनी बिरादरी की इस कठोरता पर उन्हें क्रोध आने लगा। पर क्या करते? क्या अपनी लड़की को भाड़ में झोंक देते? अन्त में, मुन्शी जी ने विवश हो कर्ज़ लेकर लड़की की शादी की। अच्छे घर में, अच्छे वर के साथ। लड़की ससुराल बिदा हुई, पर मुन्शी जी पर तीन हज़ार के कर्ज़ का बोझ लद गया। मुन्शी जी ने सोचा, "अब करना ही क्या है? ज़िन्दगी भर में कर्ज़ अदा करूँगा। मर जाऊँगा तो मेरा कोई क्या ले लेगा?"

बहुत दिनों के बाद मुन्शी जी की पत्नी को बच्चा होने को हुआ। पति-पत्नी दोनों को इसकी कोई सम्भावना न थी। पर दैवी को कौन टालता! दोनों इस पर बड़े चिन्तित हुए कि कहीं फिर लड़की न हो, नहीं तो बे मौत मरे। एक ही की शादी में इतना बड़ा बोझ लदा जो सारी उम्र में उतारे न उतरेगा, दूसरी अगर एक और हुई तो बस अनर्थ ही हुआ। उसका पार लगाना ईश्वर के भी बस का नहीं। मुन्शी जी अधिक चिन्तित थे, पर कभी-कभी सोचते, अगर दैव की कृपा से पुत्र हुआ तो ईश्वर ने मानो अपने हाथों उबार लिया। सारा कष्ट कट जायगा। पहले यह बिचार केवल निराशा की सीमा पर धुँधले प्रकाश की भाँति उदय हुआ था। धीरे-धीरे कल्पना उसका आह्वान करने लगी। यह धुँधला प्रकाश मधुर कल्पना का सुयोग पाकर धीरे-धीरे मुन्शी जी को

उजज्वल-भविष्य की याद दिलाने लगा। वे नित्य परमात्मा से प्रार्थना करते, "प्रभो, पुत्री न देना! नहीं तो मेरा इस संसार-सागर से उब-रना दुष्कर होगा। दयानिधे! दीन की पुकार की अवहेलना न करना। मुझे धन न दीजिए, संतान न दीजिए, पर पुत्री न दीजिए। नहीं तो प्रभो! भूखों मरकर भी उसका ऋण न चुका सकूँगा। बस एक ही काफी थी। उस जन्म के पापों के लिए यही यथेष्ट प्रायश्चित्त थी।"

परमात्मा ने मानो मुन्शी जी की पुकार सुन ली। मुन्शी जी के पुत्र उत्पन्न हुआ। पति-पत्नी को पुत्र होने का उतना आनन्द नहीं हुआ जितना पुत्री न होने का। दोनों फूले न समाये। मित्रगण, बिरादरी-वाले, सभी दावतों का तक़ाज़ा करने लगे। मुन्शी जी उनकी बात कैसे टालते? आख़िर समाज के प्राणी थे। बिरादरी में रहना है। मित्रों से नित्य काम पड़ता है। खूब धूम-धाम से आनन्द मनाया गया। मुन्शी जी के सिर पर कर्ज़ का बोझ कुछ और भारी हुआ, पर अब उन्हें मानो उसका भारीपन नहीं अखरता था। सोचते थे, "ईश्वर ने पुत्र दिया है, तो कुछ सोच ही समझ कर। वह पार लगायेगा सब।" अब उन्हें चिन्ता न थी। उनकी चिन्ताएँ, उनकी परेशानियाँ, सभी पुत्र के भविष्य पर निर्भर थीं। उनका पुत्र मानों इन्हीं सब को मिटाने के लिए पृथ्वी पर जन्मा था।

पति-पत्नी दोनों पुत्र को बेहद प्यार करते। उनकी सारी अभिलाषा और आशा का बिरवा वही था। ज्यों-ज्यों वह बच्चा बढ़ता, उनके उज्ज्वल भविष्य की अवधि मानों घटती जाती थी। वे उसके लालन-पालन में किसी प्रकार की कोर-कसर न करते। मुन्शी जी वही थे, उनकी आम-दनी वही थी, पर उनके पुत्र के लालन-पालन से कोई यह नहीं कह

सकता था, कि यह मोहर्रिर का लड़का है। लड़का अच्छी तरह पला, होनहार निकला, पढ़ने-लिखने में तेज़, देखने में सुन्दर, शरीर का हृष्ट-पुष्ट, चाल-चलन का सुशील, वह ग्रेजुएट हुआ। परीक्षा में प्रथम आया, चारों ओर से मुन्शी जी को बधाइयाँ मिलीं। मुन्शी जी सरकारी नौकर थे, और वह भी छोटी-मोटी नौकरीवाले। वे समझते थे बड़ी नौकरी की क़द्र गज़ेटेड-आफिसर उनके लेखे करोड़पति था। इससे कम अपने पुत्र के लिए वे किसकी कामना करते? उन्होंने लड़के को डिप्टी कलेक्टरी की परीक्षा में बैठाया। लड़का मेहन्ती था, प्रतिभावान था। सर्वप्रथम आया, उसकी नियुक्ति हो गई। मुन्शी जी ने निश्चिन्तता की साँस लेनी चाही, पर जब बैठकर हिसाब लगाया तो कुल मिला कर उन पर पंद्रह हज़ार के ऋण का बोझ हो गया था। बेचारे के पैरों से अभी चिन्ता की बेड़ी न कटी, पर उन्हें विश्वास था कि अब कटने की अवधि निकट है। उनका पुत्र विवाह के योग्य हो चुका था।

लड़का डिप्टी कलेक्टर हुआ। मुन्शी जी की मर्यादा बढ़ी। अब वे डिप्टी कलेक्टर के पिता थे। दफ़्तर में अब उनकी धाक थी। लोग उनसे सहमते थे। बिरादरी में अब उनका मान होने लगा। वे ऊँचे घर के माने जाने लगे। लोग उन्हें ख़ानदानी कहते। लड़के की शादी आने लगी। मुन्शी जी को अब लड़की वालों से कसर निकालने का मौक़ा मिला। जितना ही वे अपनी लड़की की शादी में भुगते थे, उतना ही वे दूसरों को भोगाना चाहते थे। 'जाके पैर न फटी बिवाई सो का जाने पीर पराई, यह किसी मूर्ख ने कहा होगा। मुन्शी सोचते एक हाथ से दिया है तो दूसरे हाथ से लेंगे। इसमें क्या अन्याय है? यह तो

सीधा सौदा है। यही नीति है; यही संसार का नियम है। दूर-दूर से लोग शादी का प्रस्ताव लेकर आते। मुन्शी जी उनसे मोलभाव करने को पहले ही से तैय्यार रहते। उनका सीधा प्रश्न होता, "क्या दोगे ?" लोग भूमिका बाँधते। कहते, "हमारा कुल अच्छा है, हम ख़ानदानी हैं। लड़की सुन्दर है, पढ़ी-लिखी है, सुशील है, सुघर है।"

मुन्शी जी उत्तर देते, "लड़के वाले रुपया देखते हैं, रुपया आप कितना दगे ? मैंने भी लड़की की शादी की है। किसी ने पूछा था, 'लड़की कैसी है' ? सभी पूछते थे, कितना दोगे ? मैं भी ईश्वर की दया से लड़के वाला हूँ, मैं भी पूछता हूँ, आप कितना देंगे ?" लोग चुप हो जाते। मुन्शी जी पंद्रह-बीस हज़ार का आसमान दिखाते। किसी की हिम्मत न होती। ख़ानदानी घरानों में रुपया कहाँ ? और रुपये वाले मुन्शी जी को ख़ानदानी नहीं समझते थे।

कितने आये, कितने गये। मुन्शी जी ने किसी को मुँह नहीं दिया। उन्होंने निश्चय कर लिया था, पंद्रह हज़ार से कम पर हामी नहीं भरूँगा। स्त्री ने समझाया, 'लड़का सयाना है, कमाता है, उसकी शादी हो जानी चाहिए।' मुन्शी जी ने उत्तर दिया, "लड़की नहीं है कि नाक कट जायगी। जिसे गर्ज़ होगी पंद्रह हज़ार लाकर गिन देगा। क्या सेंत का माँगता हूँ ? पढ़ाया नहीं है ? आख़िर क्या मैं अपने लिए माँगता हूँ ? मुझे भी तो पाटना है। जिसके लिए लिया था उसी के लिए वे भी देते हैं।" स्त्री भी चुप हो जाती। सोचती, "ठीक तो कहते हैं, आख़िर यह कर्ज़ कहाँ से अदा होगा ?"

लड़का डिप्टी कलेक्टर हो गया, ठाट-बाट से रहने लगा। जितना पाता उससे सवागुना ख़र्च होता। मुन्शी जी की आशाओं पर मानो पानी

फिरना आरंभ हुआ। सोचते थे, उसकी नौकरी लगते ही घर माला-माल हो जायगा। यहाँ कुछ का कुछ नज़र आ रहा था। अब उन्हें सब से बड़ी चिन्ता अपने ऊपर के कर्ज़ की थी। उनके लिए बस एक ही उपाय रह गया, वह था लड़के की शादी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों सूद बढ़ता गया, त्यों-त्यों मुन्शी जी अपने लड़के की शादी का दहेज बढ़ाते गये। अंत में उन्होंने निश्चय कर लिया कि बीस हज़ार से एक कौड़ी कम पर विवाह की बात न करेंगे, चाहे जो कुछ हो। मुन्शी जी नित्य अपने घर पर अकड़कर बैठते। सोचते, शादी की फ़रमाइश आती होगी। पहुँचते ही मुँहफट सुनाऊँगा। पर अब झूठ को भी उनके घर कोई झाँकने न आता। पर बेचारे निराश न होते। उन्हें निश्चय था कि उन का पुत्र कुआँरा न रहेगा।

मुन्शी जी का पुत्र बहुत दिनों बाद घर आया, और आया भी एका-एक। और वह भी दो-एक ही दिन के लिए। मुन्शी जी के यहाँ मित्रों का ताँता लग गया। सभी उनके पुत्र का आना सुनकर मिलने आते। बेचारे मुन्शी जी पुत्र से बातें करने को तरसते रहते। रात को बैठे भोजन करने। स्त्री ने बात छेड़ी। बोली, "रामू कल जानेवाला है। उसकी बातों का कुछ उत्तर दिया?"

मुन्शी जी ने आश्चर्य से पूछा, "मुझ से उससे कब बात-चीत हुई? जब से आया है इधर ही उधर में है। कौन सी बात उसकी है जो उत्तर दूँ?"

स्त्री ने कहा, "तुम से न कहा हो। संकोच करता हो। ख़ैर, उसने एक लड़की पसन्द की है।" मुन्शी जी चुपचाप सुनते रहे। स्त्री कहने लगी, "कहता था, लड़की पढ़ी-लिखी है, सुन्दर है, अच्छे घराने की है,

देखी-सुनी है।"

मुन्शी जी के लिए मानो ये व्यर्थ की बातें थीं। बोले, "और देंगे क्या ?"

मुन्शियाइन कहने लगीं, "मैंने पूछा था। बोला, लेन-देन की बात मैंने नहीं की, और न कर ही सकता हूँ। मैं तो 'सोशल रिफार्म' लीग का मेम्बर हूँ। इसके बारे में तो हम लोगों ने क़सम खा ली है। जो जिसकी तबियत हो दे, न दे। हमें लोग इक्कावन रुपये से अधिक देने पर विवश नहीं कर सकते।"

मुन्शी जी ने सिर हिलाकर व्यंग से कहा, "अच्छा ! यह बात है ? यह मुझे नहीं मालूम थी। तो फिर मुझसे पूछने की ज़रूरत ? तुम जानो तुम्हारा लड़का जाने।"

मुन्शी जी की पत्नी को यह व्यंग अच्छा न लगा, पर उन्होंने शांत करने की नीयत से कहा, "आख़िर बिना तुम्हारी राय के शादी कैसे होगी ?"

मुन्शी जी ने दृढ़ होकर उत्तर दिया, "मेरी राय से होगी तो नहीं होगी। मैं बीस हज़ार से कम न लूँगा।"

मुन्शियाइन अब अपने को न रोक सकीं। बोलीं, "बीस हज़ार बीस जन्म में न मिलेंगे। पर लड़का कुँवारा नहीं रहेगा। यह भी कोई बात है !"

मुन्शी जी आपे से बाहर होकर बोले, "तो करो न अपने मन की ! मैं रोकता हूँ किसी को ! पर बतला देना लाला जी को कि बीस हज़ार का इन्तज़ाम कर रखें। ये रुपये लेकर मैंने रँडी नहीं नचाई थी।" यह कहकर वे चौके से उठकर खड़े हो गये।

अभी वे हाथ ही धो रहे थे कि उनका पुत्र सामने दीख पड़ा। मुन्शी जी ने पुकारा, "रामू !" रामू विनीत भाव से सिर नीचा किये आ खड़ा हुआ। मुन्शी जी कुल्ली करते-करते बोले, "क्यों, सुनते हैं तुम अपनी शादी तय कर रहे हो ?"

रामू ने दबी ज़बान से कहा, "हाँ, मेरे एक मित्र की बहन है। वे मुझ पर दबाव डाल रहे हैं।"

मुन्शी जी ने खरका करते हुए कहा, "और तुमने मान लिया दबाव उनका ?"

रामू अपने कोट का बटन खोलते हुए बोला, "कैसे नाहीं करता, मेरे कालिज के साथी हैं।"

मुन्शी जी ने उसकी ओर आँख उठाकर क्षण भर देखा और बोले, "अच्छी बात है। मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर वे बीस हज़ार देंगे ?"

रामू ने दृढ़ होकर उत्तर दिया, "लेन-देन की कोई बात नहीं हो सकती। और न वे इतनी रक़म दे ही सकते हैं।"

"तो फिर तुम देना अपनी जेब से। कुछ पता है बीस हज़ार का कर्ज़ अदा करना है। ये तुम्हारी पढ़ाई के हैं, कुल सूद लेकर।"

रामू ने संक्षेप में उत्तर दिया, "दूँगा।"

"दूँगा !" मुन्शी जी ने व्यंग करते हुए कहा, "कहाँ से दोगे ? इतनी तन्खाह में अकेले के ख़र्च को तो अँटता नहीं।"

रामू उत्तेजित हो उठा पर विनय से बोला, "ख़र्च कम कर देंगे, मोटर निकाल देंगे, नौकर कम कर देंगे, खद्दर पहनेंगे, क्लब की मेम्बरी छोड़ देंगे।"

"हाँ ! यह बात ! तो यह भी याद रखो। उसी दिन सरकारी नौकरी

से छुट्टी भी पा जाओगे।" मुन्शी जी कह बैठे।

रामू झल्लाकर उत्तर दे बैठा, "कालिज की नौकरी कर लेंगे।"

"कमेटी के मेम्बरों की मिज़ाज-पुर्सी कर सकोगे ?" मुन्शी जी ने व्यंग से पूछा।

"न कर सकूँगा, इस्तीफ़ा दे दूँगा, साहित्य सेवा करके काम चलाऊँगा।" रामू ने लाचार होकर कहा।

"साहित्य-सेवा करोगे ! मारे-मारे फिरोगे।" मुन्शी जी ने अंतिम आघात समझकर उत्तर दिया।

रामू अपने सिद्धान्त पर अटल था, बोला, "कुछ करूँगा किसी तरह पेट भरूँगा।"

"और बीस हज़ार अदा कर सकोगे ?" मुन्शी जी ने मानो पहाड़ दे मारा था।

रामू ने उङ्गली पर मानो उसे रोक लिया। बोला, "हाँ अदा करूँगा, ज़िन्दगी भर में अदा करूँगा।"

मुन्शी जी सहज में जान छोड़नेवाले न थे, कह बैठे, "और बाल-बच्चों को कहाँ से खिलाओगे-पिलाओगे, पढ़ाओगे-लिखाओगे ?" मुन्शी जी का यह अंतिम बाण था, पर कुठाँव लगा।

उत्तर मिला, "जहाँ से आपने किया है।" मानो मुँह पर तमाचा लग गया। मुन्शी जी तिलमिला कर चुप हो गये।

डिप्टी कलेक्टर लड़का दूसरे दिन अपनी नौकरी पर चला गया। मुन्शी जी ने पेंशन लेकर घर से इस्तीफ़ा दे दिया। उनकी स्त्री अब अपने पुत्र के साथ रहने चली गई। वे अयोध्या में राम भजन करने चले गये।

❀ ❀ ❀ ❀

पता नहीं मुन्शी जी के पुत्र की शादी हुई या नहीं पर हमें विश्वास है अवश्य हो गई होगी। यों तो मुन्शी जी के नित्य दर्शन होते हैं, पर उनसे पूछने की हिम्मत नहीं होती। वे अब सांसारिक प्राणी नहीं रहे। ऐसे प्रश्नों पर अब वे उपेक्षा भरी हँसी हँस देते हैं।

मदन

संसार से मुझे घृणा हो गई थी। बस्ती से दूर एक जंगली प्रांत में एक कुटी बनाकर रहता था। प्रात:काल दूर क्षितिज पर पर्वत माला की नीली रेखा पर अरुण आभा का चढ़ना देखता था। संध्या-कालीन समीर सेवन करता हुआ, थके हुए सूर्य को पश्चिमीय सागर में गोते लगाते देखता था। प्रकृति के सौंदर्य का पर्यवलोकन मेरी दिनचर्य्या थी। प्रफुल्ल जीव-जन्तुओं के साथ अलौकिक आनन्द का अनुभव करना मेरा काम था।

जाड़े के दिन थे। निस्तब्ध निशा में अपने नीरव कुटीर में, टिमटिमाते हुए दीपक की मन्द ज्योति में 'रामायण' बाँच रहा था। टट्टी के अविरल छिद्रों से आई हुई ठँढी हवा के मन्द झोकों से कभी-कभी दीपक की शिखा

नाच उठती थी। मैं उस समय अपना कम्बल अपने शरीर पर और भी लपेट लेता था। उस नीरव निशा में मुझे ऐसा जान पड़ा मानो कोई दूर पर सिसक रहा हो। आह! मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ता था। यह ध्वनि तो मानो किसी बालक की थी। रोते हुए बालक की कल्पना ने मुझ में न जाने कितनी स्मृतियाँ जागृत कीं। उस समय मुझ में कितना वात्सल्य प्रेम था। विधाता की प्रबंचना ने उसे प्रस्फुटि होने का अवसर ही न दिया। पत्थर से दबे हुए बीज की भाँति वह ऋतु आने पर केवल अँखुआकर ही रह गया। धीरे-धीरे 'सिसकना' मानो मेरी कुटीर के समीप आता जाता था। ऐं! क्या कोई मेरी टट्टी पर हाथ रख रहा है। यह कौन आश्रय चाहता है? खोल दूँ क्या? वह बोला, "मैं सर्दी से ठिठुर रहा हूँ।"

मैंने दौड़कर टट्टी हटा दी। दीपक की मन्द ज्योति में मैंने उस बालक की सौम्य मूर्ति देखी। उसके कोमल कपोलों पर अश्रु बूंद मोती की भाँति चमक रहे थे। मैंने दौड़कर उसे गोद में उठाकर पूछा, "पुत्र तुम कौन हो? कहाँ से आते हो?"

उसने कहा, "मैं निराश्रय हूँ, दूर से मन्द दीपक का प्रकाश देखकर आश्रय पाने की आशा से यहाँ आया हूँ।"

मैंने उससे पूछा, "यह तुम्हारे पास धनुही कहाँ से आई?"

उसने कहा, "प्रकृति माता ने मुझे यह जनमते ही प्रदान की थी। इसे लेकर मैं बन-उपवनों में, शांति सरिता-तटों, गगनचुम्बी शिखरों और रमणीय प्रान्तों में, खेलता फिरता हूँ।"

मैंने मदन का पौराणिक वर्णन पढ़ा था, पर उसे पौराणिक-प्रपंच समझकर मैं यह न निर्णय कर सका कि यह सुमनशरसज्जित, सुंदर,

पकड़कर मानो गंगा की लहरें गिनने लगा।

मल्लाहिन मकान से यह सब देख रही थी। दूर से पता नहीं चला, उसके चेहरे से क्या भाव प्रगट होते थे, पर इतना अवश्य दिखाई पड़ा कि उसने क्रोध और निराशा के आवेश में एक बार अपनी नाव की ओर हाथ बढ़ाकर कुछ अंग-भंगी की थी। दोनों शिकारी चले गये। सूर्यदेव भी अस्ताचल को जा रहे थे। घाट पर अब कोई न था। पीपल की प्राची दिशा तक फैली हुई पतली रेखा अब बढ़कर मानो अंधकार के रूप में चारों ओर फैल रही थी। मँहगू अपनी नाव पर निश्चल बैठा था। उसके बाहर निस्तब्धता विराज रही थी, पर उसके मन में क्या उथल-पुथल हो रहा था, यह वही जाने। उसने एक बार घर की ओर देखा। अंधकार के आलोक में उसका घर दिखाई नहीं पड़ा। वह नाव से उठना ही चाहता था कि उसे अपनी मल्लाहिन की बोली सुनाई पड़ी।

"घर चलोगे कि बैठे-बैठे लहरें गिना करोगे? सारा दिन गँवाया अब क्या रात भर भी यहीं बैठने का विचार है?"

मँहगू ने अपराधी की दीनता से सफ़ाई देते हुए कहा, "तो मैं क्या करता? जब सौदा ही नहीं पटता तो मैं क्या बरबस चढ़ा लूँ? लोग तो मुफ़्त में काम कराना चाहते हैं।"

मल्लाहिन ने उपेक्षा की ध्वनि में कहा, "इतने आये, तुमसे भाड़ा ही नहीं पटता। क्या सभी मुफ्त में जाना चाहते हैं? मैं बैठी-बैठी सब देख रही थी।"

मँहगू कुछ साहस करके बोला, "अच्छा तू ही बता, मैंने क्या मार-कर भगा दिया था? लोग उतराई चार-पाँच पैसे से अधिक नहीं देना चाहते। उन्हें पैसा तो बड़ा प्यारा है, हमारी मेहनत हमें प्यारी नहीं?

इस 'तिरखे' में डाँड लगाकर उस पार जाने में पसीना आ जाता है।"

मल्लाहिन को मानो सफ़ाई कुछ जँची नहीं। उसने मानो अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिए कहा, "और वे दो साहब जो लौट गये क्या वे भी चार पैसा दे रहे थे?" मँहगू को विश्वास तो था कि उसकी मल्लाहिन घर पर बैठे-बैठे यह नहीं सुन सकती कि उसने क्या माँगा था, फिर भी उसने सचमुच ही कहा, "मैंने तो दो ही रुपये माँगे थे।"

"और वे देते क्या थे?" उसकी स्त्री ने तुरंत पूछा।

मँहगू को क्रोध चढ़ आया। वह ज़ोर से बोला, "देते क्या थे? रो-गाकर पौने दो! चार आने हमारे और देने में प्राण निकल रहे थे।"

मल्लाहिन को मानो अब निश्चय हो गया कि अपराध मँहगू का ही था। उसने ऐंठकर कहा, "और पौने दो रुपये कुछ कम थे? कम से-कम आज का तो सारा ख़र्च निकल आता।" उसका सिर का हिलाना-मँहगू अँधेरे में न देख सका। उसने क्रोध के आवेश में कहा, "तू बड़ी चतुर है न। पौने दो रुपये तो तू ही ऐंठ लेती और मैं क्या मुफ़्त में सर्दी में जान देता? मैंने चार ही आने तो अपने लिए माँगे थे। उसे भी उन्हें देने में रुलाई आ रही थी। उन्हें चार आने प्यारे हैं, तो रहें। मुझे मुफ़्त में पसीना बहाना नहीं आता।"

स्त्री अब हार गई थी। उसने निराशा, दुःख और दया भरे शब्दों में पति को धिक्कारा, "यह सब कुछ नहीं, तुम पर बेकारी का भूत सवार है।"

मँहगू खड़ा यही सोच रहा था, "मैंने क्या अपराध किया? आख़िर दो रुपये से कम में मेरा कैसे हिसाब बैठता?" उसे निश्चय हो गया था, कि उसकी स्त्री उसे व्यर्थ खरी-खोटी सुनाती है।

प ड़ो सि न

हम दफ़्तर के बाबुओं को अपने चर्ख़े से कहाँ फ़ुरसत कि दीन-दुनिया की ख़बर रखें। दिन भर दफ़्तर की कुरसी से चिपके फ़ाइलों में सिर खपाया। बीच-बीच में उठकर साहब की मिज़ाजपर्सी की, और उनके हर अच्छे-बुरे शब्दों का "जी हुज़ूर" से स्वागत कर, फिर अपने अड्डे पर आ बैठे। वर्षों के इस घटनाहीन जीवन में दिन बिताकर यदि किसी की चेतना, कल्पना-शक्ति और आत्म-सम्मान जीवित रह सके, तो उसे बेहयाई के सिवा और क्या कहेंगे? सौभाग्य से मैं उन बेहयाओं में न था। देश-काल-परिस्थिति के अनुसार सौ में निन्नानबे व्यक्ति जो हो सकते हैं—मैं भी वही था। बस, दिन भर की दफ़्तर की हाज़िरी, सिर-खपन, डाँट-फटकार, जी हुज़ूरी, इस से छुट्टी पाकर

सीधे साइकिल का रुख घर की ओर करता; और फिर मुझे पता नहीं रहता कि मैं कैसे और किस-किस मोड़ से घूमता-फिरता, मोटर, साइकिल, इक्के, गाड़ियों से बचता हुआ सही-सलामत घर पहुँचता था। मेरे लिए इस विस्तृत विश्व में केवल दो ही लोक थे। एक दफ़्तर, दूसरा घर। दफ़्तर दिन के लिए और घर रात के लिए। दफ़्तर में दिन भर सिर खपाना, रात को घर पर सिर दर्द लेकर पड़ रहना; जीवन में इसके अतिरिक्त और भी कोई घटना हो सकती है, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। पर जो बात होने की होती है, वह होकर ही रहती है, हम चाहे उसकी कल्पना कर सकें वा न कर सकें।

पड़ोस में कौन-कौन सज्जन रहते हैं, जब इसीका पता लगाने का अवकाश नहीं, तो पड़ोसिनों की खोज कौन करता फिरता। यहाँ तो आँखों के सामने होते हुए भी यदि सौभाग्य से देख लिया तो इतना ही बहुत कहिए। सच बात तो यह है कि यद्यपि दफ़्तर का बाबू अपने अस्थि-चर्म-निर्मित भौतिक शरीर से अन्य स्थान—'दफ्तरेतर' में भी वर्तमान रहता है, तो भी उसका दिल-दिमाग़, उसकी चेतना, भूत की भाँति उन्हीं ईंट-चूने को बनी, फ़ाइलों से भरी इमारतों के चारों ओर मँडराया करती है, जिन्हें हम अप्रिय,किन्तु सत्य शब्दों में, व्यक्तित्व आत्मसम्मान, स्वातंत्र्य-कल्पना, मौलिकता, आदि की समाधि कह सकते हैं। अस्तु।

एक दिन की बात है, मैं अपनी साइकिल पर सवार न जाने क्या-क्या सोचता हुआ, धीरे-धीरे घर आ रहा था। संभवतः मेरा मस्तिष्क अपने डिपार्टमेंट या घर के 'बजट' की समस्यापूर्ति में उलझा था। दोनों सदा 'डेफिसिट्' में रहते हैं। दोनों के सामने घाटे की

समान समस्या रहती है। खैर, मैं ज्यों ही मकान की ओर मुड़ा, मेरी आँखें एकाएक पास के मकान की खिड़की की ओर आकृष्ट हुईं। आसमानी चिलमन की तीलियों को भेदकर एक मनुष्याकृति की रूप-रेखा मेरी आँखों में चित्रित हो गई। ऐसा जान पड़ा मानो समुद्र की नीली लहरों में चन्द्रमा प्रतिबिंबित हो उठा हो। मेरी साइकिल घर पहुँची, पर मेरी उत्सुकता रह-रहकर चिलमन से टकराती थी।

घर पहुँचकर मैंने पहले यथाभ्यास, स्त्री से बच्चों का हिसाब पूछा। "सब कुशल" सुन निश्चिन्त होकर कपड़े उतारने लगा। लोग कहते हैं व्यर्थ-कुतूहल बुरी चीज़ है। पर कुतूहल तो कुतूहल ही है। इसमें अच्छा-बुरा क्या? मैंने स्त्री से यों ही पूछा, "पड़ोस के मकान में कोई आया तो नहीं है?" वह मुझ से भी बढ़कर निकली। कहने लगी, "यहाँ अपने ही घर का पता नहीं रहता, पड़ोस की क्या ख़बर रखूँ? होगा, आया होगा कोई; अभी परसों तक तो ख़ाली पड़ा था।"

मैंने आगे कुछ न पूछा। कुतूहल कहीं असंभव के आगे टिकता है। न मुझे फ़ुरसत, न मेरी स्त्री को। फिर पड़ोस में कौन आया है, इसके पीछे कौन माथापच्ची करता। दूसरे दिन मैं फिर नित्य की भाँति साइकिल पर घर की ओर चला, पर आज न जाने क्यों दफ़्तर का कम्पाउंड (अहाता) छोड़ते ही पड़ोस के मकान का ध्यान हो आया। जी में आया, उसी ओर से निकलूँ। फिर सोचा, इससे फ़ायदा? अपने जी को समझा-बुझाकर बात मन से निकाल डाली। आगे बढ़ा। न जाने क्या सोचने लगा। एकाएक घर के पास पहुँच गया; बस, कलवाले मकान से मुड़ना बाक़ी था। साइकिल अपने आप उधर ही घूम पड़ी, उसी मकान से होकर क्षण भर उसकी गति उसी चिलमन के नीचे मन्द हुई। आँखें रोकने पर भी ऊपर

उठीं। दृष्टि ने नीले चिलमन को भेदकर एक महिला के मुख का 'फ़ोकस' ले ही लिया। यह यद्यपि स्पष्ट न था, पर उस से कुछ अनुमान हो सकता था।

अब अधिक जानने की उत्सुकता जाती रही। इतना निश्चय हो गया कि पड़ोस के मकान में कोई आकर बसा है, और यह उसकी घरवाली है, जो कदाचित् देखने में गोरी है। कुतूहल अब शांत हो चुका था; मन में यह बात जम चुकी थी कि कोई हमारा पड़ोसी होगा, और यह पड़ोसिन उसीकी घरवाली होगी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये इस तथ्य के विषय में धीरे-धीरे अन्य बातें भी स्वयं ज्ञात होने लगीं। किसी दिन पड़ोसिन को खिड़की की चिलमन हटाकर तरकारीवाली को इशारा करते पाया। देखा, तो उनका चेहरा सुन्दर और सुडौल था। अधिक उमर को तो नहीं मालूम हुई। होंगी कोई बीस-बाईस वर्ष की।

एक दिन की बात है। दरवाज़े पर कोई सौदागर बिसात फैलाए बैठा था। नौकरानी उस से तरह-तरह की चीज़ें लेकर मालकिनको दिखा रही थी। पड़ोसिन दरवाज़े की ओट से चीज़ें पसन्द कर रही थीं और उन्हें दिखाने का आदेश देरही थीं। उनकी बात तो बिसाती भी सुन लेता था, पर परदे की रक्षा के निमित्त नौकरानी को उसे दोहराना ही पड़ता था।

हमारी पड़ोसिन परदानशीन महिला हैं, अब यह निश्चय हो गया। पर इससे क्या? परदा की प्रथा का वे निर्वाह कर रही थीं। रहा, परदा सो वह पड़ोसिन की रूप-रेखा को छिपा न सका। उनके शरीर की सुडौ-लता, उनका मझोला क़द, सुन्दर मुखड़ा, उनकी वेशभूषा—वस्त्राभूषण, सभी धीरे-धीरे प्रकट हो गये। कमी रही सिर्फ़ एक बात के ज्ञान की, यह कि उनकी वाणी कोमल है वा कर्कश, मधुर है या गंभीर। अंदाज़ लग ही

गया। एक दिन की बात है। उस दिन कदाचित् मैं घर में अकेला ही था। दाल चूल्हे पर चढ़ी थी। कोई रात के आठ बजे थे। मैं आग की आँच में पसीने से तर होकर छत पर उसे सुखाने गया था। एकाएक पड़ोसिन के यहाँ कुछ 'झाँव, झाँव,' 'काँव-काँव,' सुनाई पड़ा। पहले कुछ समझ ही में न आया। क्षण भर कान लगाये सुनता रहा। रह-रहकर दाल की याद आजाती थी। फिर शब्द कुछ स्पष्ट हो चले। दो व्यक्तियों का वाक्-युद्ध था। संभवतः दोनों पात्र स्त्रियाँ थीं। एक कुछ गँवारु, देसी बोल रही थी, दूसरी खड़ी और पछाँही बोली। अब सोचने लगा, "इन में कौन मालकिन है, कौन अन्य —अथवा यों कहिए, कौन पड़ोसिन है और कौन उसकी प्रतिद्वंद्विनी।" बड़े असमंजस में पड़ा। कैसे पता लगे ? आख़िर वाक्यों से टोह लेने लगा। परीक्षा में अनेक बार 'अनसीन पेसेज़' (अपठित अवतरण) का भावार्थ किया था। दो-चार वाक्यों से 'कंटेक्स्ट' (संदर्भ) का पता लगाने का अभ्यास था। आख़िर वह अभ्यास काम आ ही गया। एक महिला ने खड़ी बोली में ऊँचा-नीचा बखानना आरंभ किया, तो दूसरी "मेउँ-मेउँ" करके चुप हो गई। मैंने तुरंत निश्चय कर लिया, कि मालकिन की मुँहफट, खड़ी बोली की गालियों के सामने नौकरानी की 'भाखा' की लल्लो-चप्पो नहीं चली। मालकिन—सिवा हमारी पड़ोसिन के और कौन हो सकती है, हो न हो, वह अपनी नौकरानी को फटकार रही थीं। अपने इस 'रिसर्च' पर बड़ा प्रसन्न हुआ। अफ़सोस है, कि मैं कालिज का 'प्रोफ़ेसर' न हुआ, नहीं तो अपनी यह 'थीसिस' डाक्टरेट के लिए अवश्य 'सब्मिट' करता। ख़ैर, दाल की याद आई तो दौड़ा-दौड़ा नीचे आया। देखता हूँ तो वह जलकर राख हो गई है। अपने ऊपर झल्लाहट आई या पड़ोसिन

पर, यह नहीं कह सकता।

अपने हाथों चूल्हा फूँकने का काम दो-एक सप्ताह चला। इसीके साथ मेरी पड़ोसिन के विषय में धीरे-धीरे और भी जानकारी बढ़ी। रोटी को हाथ से बढ़ाते-बढ़ाते कभी-कभी रोककर उनकी खड़ी बोली का आनंद लिया करता था। आज नौकरानी पर डाँट पड़ रही है, तो कल मिसरानी या दूधवाली पर। एक बार भी उनकी वाणी का मधुर रूप, उनके लाड़-प्यार का तरीक़ा मुझे देखने-सुनने का सौभाग्य न हुआ। मैंने निश्चय कर लिया कि और जो कुछ हो, हमारी पड़ोसिन बड़ी कर्कश स्वभाव वाली हैं। फिर तो मैं उनके विषय में अधिक टोह लेने लगा। एक दिन संयोग से बाज़ार से लौटते समय नौकरानी मिल गई। "पूछा, कहाँ से आ रही हो?" बोली, "बाज़ार से।" मैंने धीरे-धीरे बात छेड़ी, फिर घुमा-फिराकर पूछ बैठा, "तुम्हारी मालकिन कहाँ की रहनेवाली हैं?" वह बोली, "शायद पछाँह की।" मैंने कहा, "पछाँह? पछाँह तो भारी देश है। हैं वे किस ज़िले की?" वह बोली, "बाबू जी! एक दिन कह रही थीं, हम लोग मेरठ की रहनेवाली हैं। होगा मेरठ कोई देश पछाँह का।"

मैंने समझ लिया। हमारी पड़ोसिन मेरठ की रहनेवाली हैं। मैंने फिर नौकरानी से पूछा, "तू कहाँ की है?" वह बोली, "यहीं परतापगढ़ की। हम बाभन हैं सरकार!" मुझे मौक़ा मिल गया। मैंने पूछा, "महराजिन, तेरी मालकिन के बाबू हैं?" महराजिन बोली, "काहे नहीं हैं। पर वे तो सदा बहरे-बहरे घूमा करत हैं। शायद दौरा पर रहत हैं। दूसरे-तीसरे महीने आवत रहत हैं।"

इतने में एक मित्र आ मिले। मैं उनसे बातें करते-करते घर पहुँचा।

अब चूल्हे से फ़ुर्सत मिली। धर्मपत्नी जी आगईं थीं। अब

चंचल बालक साक्षात वही है।

अँगीठी की धीमी आँच में हम दोनों ने अपने पैर सेंके। निशा देवी अपने तृतीय पन में पैर रख रही थीं। बालक की मधुर बातों में मुझे सुधा का आनंद मिल रहा था। वायु की गति बढ़ती जाती थी। रह-रह कर टट्टी के छिद्रों से आये हुए झोकों से दीपक की शिखा अत्यंत चंचल हो रही थी। मेरा मन उसी प्रकार आनंद से आलोडित हो रहा था।

बालक को झपकी आते देख, मैं उसे लेकर पुआल से भरे पलंग पर जा लेटा। वह सर्दी के कारण मेरे वक्षस्थल से चिपट रहा था। उसे निद्रा के वशीभूत होते क्षण भर भी देर न लगी। दीपक के अंतिम प्रकाश में मैंने उसका सुंदर मुखड़ा देखा। उसकी छोटी धनुही एक हाथ में थी, दूसरे में वह कुसुम शर पकड़े था।

मैं कैसी प्रगाढ़ निद्रा में सोया, मुझे आश्चर्य है। ऐसी नींद मुझे कभी नहीं आई थी। आँखे खुलते ही मैंने देखा मेरे वक्षस्थल से लिपटा हुआ वह बालक न था। अरे! वह गया कहाँ? होगा कहीं गया होगा। नहीं ज़रा इधर-उधर देख ता लो। मैं दौड़ा हुआ कुटी के बाहर पहुँचा। सूर्यदेव की पीली किरणें धीरे-धीरे पृथ्वी को स्पर्श कर रही थीं। तृणांकुरों पर पड़े हुए ओसकण रँग-बिरँगा रूप दिखा रहे थे। मैं क्षण भर देखता रहा। अरे! वह बालक कहाँ गया? चारों ओर खोजा पर उसका कहीं न पता लगा। निराश होकर कुटी की ओर लौटा, शय्या पर माथा पकड़कर बैठ गया। क्यों, इसमें हर्ज ही क्या है। वह कहीं से आया था, कहीं चला गया। वह निराश्रय था, तुमने आश्रय दिया था। वह सर्दी से ठिठुर रहा था, तुमने उसे वक्षस्थल में स्थान देकर आराम दिया, फिर दुखी क्यों हो। क्या वह तुम्हारे यहाँ सदा रहने

आया था। मैंने सोचा, "ठीक तो है। मुझसे उससे वास्ता? प्रयोजन?" एक बार न जाने क्यों फिर बाहर निकला। इस बार मैंने पुकारने की सोची। पर किस नाम से पुकारूँ। उसका नाम तो मैंने पूछा ही नहीं था। मैंने पुकारा, 'मदन!'

क्यों? क्या मदन उसका नाम था? मैंने फिर पुकारा 'मदन!' कोई उत्तर न मिला। मैंने गला फाड़कर पुकारा 'मदन!' प्रतिध्वनि की एक क्षीण रेखा ने उत्तर दिया, "'मदन' तुम्हारे हृदय में है।"

मैं भौंचका सा खड़ा रह गया।

बेकारी का भूत

मँहगू मल्लाह अपनी मचिया पर बैठा नारियल गुड़गुड़ा रहा था। उसकी मल्लाहिन घर की देहली पर बैठी शून्य दृष्टि से गंगा-तट की ओर देख रही थी। बच्चे धूप में पड़ोसिन के लड़कों से चबैना बँटा रहे थे। जाड़े के दिन थे। प्रथम प्रहर का सूर्य शरीर में गरमाहट पैदा कर रहा था। मल्लाहिन ने शान्ति भंग करते हुए पूछा, "आख़िर बैठे ही रहोगे कि कुछ काम-धाम देखोगे? तीन दिन तो हुए माँग-जाँच कर काम चला रही हूँ। मोदी कहता था आज हिसाब ज़रूर चुकाना। कुछ ख़बर भी है डेढ़ रुपये देने हैं?"

मँहगू की मानो निद्रा भंग हुई। बोला, "घबड़ा मत, जाता हूँ। ईश्वर ने मुँह दिया है तो खाना ज़रूर देगा।" यह वैज्ञानिक उत्तर

मल्लाहिन को न जँचा। वह त्योरियाँ बदलकर खड़ी हो गई और लगी मुँह बनाकर कहने, "अच्छा, बैठे रहो। ईश्वर आकर दे जायगा! खाना! आज ही संध्या को तो मालूम हो जायगा।"

मँहगू ने मानो कुछ सुना ही नहीं, और वह भी उस गँवारिन की क्या सुनता। वह ठहरा सत्संगी आदमी, साधु-महात्माओं का साथ करने वाला, गाँजे का दम लगानेवाला, खँजड़ी पर गानेवाला और राम-नामियों का भक्त! उसने अपनी जली चिलम उलट दी और उसे फिर भरने चला। आग तो अँगेठी में छिपी थी पर तमाकू ढूँढने उसे उठना पड़ा। उसने उठकर आले पर देखा। वहाँ नहीं था। जाकर हँड़िए में हाथ डाला तो कुछ हाथ न लगा; उसे बाहर लाकर धूप में खुरचने लगा। ख़ैर, कुछ निकल आई। एक चिलम से कुछ कम ही थी। कोई हर्ज नहीं। उसने चिलम पर 'आगी' रक्खी और फिर मचिया खिसका कर सुलगाने लगा। जाने आग कम थी या तमाकू, या दोनों; पर चिलम जमी नहीं। मँहगू ने नारियल को दिवाल से टिका दिया और सूरज की ओर पीठ कर सोचने लगा, "राम की इच्छा है, कई दिन से कोई असामी हाथ नहीं आता। यों तो बहुतेरे आते रहते हैं। जाने कहाँ के दरिद्र आते हैं। चार पैसे से अधिक मुँह से निकालते ही नहीं, मानो भीख दे रहे हों। अपने से यह न होगा कि चार पैसे पर दौड़ते फिरें। इतना तो अपने राम एक 'दम' में उड़ा देते हैं।" मोदी के डेढ़ रुपये देने हैं, दमड़ी की माँ उससे भी ज़्यादा नाक में दम कर देगी—इस विचार से उसके माथे पर बल पड़ गया।

मँहगू धीरे से उठा और तट पर बँधी अपनी नाव की ओर चला। मल्लाहिन देखकर कुछ प्रसन्न हुई। उसने लड़के को अपने पास

बुलाया और उसकी पीठ पर प्रेम से हाथ फेरते हुए नाव की ओर देखने लगी। लड़का माता को प्रसन्न जानकर गुड़ माँगने लगा। मल्लाहिन ने उसे गोद में उठा लिया और उसे बहलाने लगी। मल्लाह अपनी नाव के पास पहुँच रहा था। उधर से दो पार जानेवाले देहाती पहुँचे। मल्लाहिन ने देखा, दोनों मँहगू से पूछताछ कर रहे हैं। वह प्रसन्नचित हो बच्चे को गुड़ देने भीतर चली गई।

दोपहर होने में अब देर नहीं है। मँहगू अपनी नाव पर बैठा कुछ सोच रहा है। वह सोचता है, "डेढ़ रुपये मोदी को देने हैं। चार आने पड़ोसिन से लेकर उस दिन बाज़ार किया था; कुल हुए पौने दो रुपये। दो रुपये मिलें तो काम चले। कम से कम दो-चार आने तो अपने पास भी चाहिए। मल्लाहिन को पौने दो रुपये दे दूँगा, वह जान छोड़ देगी। चार आने पास रख लूँगा। उस से कह दूँगा कि पौने दो ही मिले हैं। फिर दो-एक दिन तो 'दम-दरूद' के लिए उसकी हीं-हीं न करनी पड़ेगी। दो से ज्यादा मिले ! तो फिर क्या कहना। पर दो से कम में तो काम नहीं चलेगा। और फिर इसमें कम पर क्या डाँड हाथ में लेना। दो चार आने पर मँहगू नहीं दौड़ने वाला। इतना तो मैंने कितनी बार साधुओं के नशा-पानी में ख़र्च कर दिया है।"

सूर्यदेव अपने चरम-शिखर से नीचे उतर रहे थे। तट पर के पीपल की परछाईं पच्छिम से पूरब ओर बढ़ने लगी थी।

कितने राही आये और दूसरे घाट चले गये। मँहगू उन्हें पार पहुँचाने पर राज़ी न हुआ। किसी ने उतराई में चार पैसे सुनाये, किसी ने पाँच पैसे। उस पार के देहाती घाट पर नाव न देख दूसरे घाट का रास्ता पकड़ते। मँहगू उठकर अपनी नाव का पानी उलचने

लगा। वह पानी उलचता जाता और बीच-बीच सड़क की ओर देखता जाता। सामने ख़ाकी वस्त्र पहने दो व्यक्ति आ रहे थे। उनके सिर पर ख़ाकी टोप भी था। धीरे-धीरे वे पास आगये। मँहगू पानी उलचकर उदासीन भाव से अपनी नाव की 'किलवारी' पकड़कर बैठ गया। मानो उसे कोई काम ही नहीं करना था।

दोनों व्यक्ति सड़क छोड़कर घाट की ओर मुड़े। एक के कंधे पर दो नली बंदूक थी, कमर में कारतूसों का परतला। दूसरे के हाथ में झोला और पीठ पर खोल के भीतर कोई चीज़—शायद वह रायफ़ल थी। दोनों घाट पर पहुँचे। एक ने पुकारा, "मल्लाह शिकार खेलाने चलता है?" मँहगू ने मानो सुना ही नहीं। दूसरे ने पुकारा, "अजी ओ नाव वाले कहीं ले चलेगा?" मँहगू ने अब मानो सुन लिया था। मुँह फेरकर अन्यमनस्क होकर बोला, "क्यों नहीं चलेंगे? कहाँ चलिएगा?" पहले शिकारी ने पूछा, "यहाँ कुछ शिकार मिलता है?" मँहगू ने गंगा की विस्तृत जलराशि पर एक बार दृष्टिपात करते हुए कहा, "क्यों नहीं मिलता? आप किस चीज़ का शिकार करेंगे?"

दूसरा शिकारी अभी तक चारों ओर ग़ौर से देख रहा था। उसने घड़ी पर दृष्टि डालते हुए कहा, "मिस्टर पी, दो बजने में दो-तीन मिनट हैं। हम लोग अधिक से अधिक तीन घंटे का 'ट्रिप' (सैर) कर सकते हैं। मुझे तो यहाँ कुछ शिकार दिखाई नहीं पड़ता है। ख़ैर, चलिए ज़रा हवा ही खालेंगे।"

मिस्टर पी अपनी सिगरेट जलाने में लगे थे। बार-बार सलाई जलाते किन्तु बार-बार वह हवा के झोंके से बुझ जाती। आख़िर टोप उतार कर उसकी आड़ में सिगरेट जलाकर वे मित्र की ओर फिरकर कहने

लगे, "कहिए मित्र ! क्या कहते हैं ?" उनके मित्र उनकी ओर से ध्यान हटाकर मँहगू के निकट पहुँचे और उससे कहा, "अजी चलना हो तो चलो, दो-एक घंटे घुमा लाओ। दो तो बज हो गये। दो-ढाई घंटे घूम-फिर लें। अगर कुछ मिला तो पीट लेंगे, नहीं तो यों ही क्यों लौटें।"

मँहगू नाव से उतर आया और पास आकर धीरे से बोला "तो क्या मिलेगा ?"

प्रथम व्यक्ति ने पूछा, "बोलो, तुम्हीं कहो, क्या लोगे ?"

मँहगू ने कुछ हिसाब बैठाते हुए कहा, "मैं तो ढाई रुपये लूँगा।"

दूसरा व्यक्ति ठहठहाकर हँस पड़ा।

मिस्टर पी ने बन्दूक़ इस कन्धे से उस कन्धे पर रखते हुए कहा, "अजो ठीक-ठीक कहो, क्या बे सिर-पैर की माँगते हो !"

मँहगू कुछ सिटपिटा गया। बोला, "चार आना कम दे दीजिए, आप की इच्छा हो दो आने और कम कर दीजिए।" यह कहकर उसने घर की ओर देखा। उसकी स्त्री दरवाज़े पर बैठी उसकी ओर देख रही थी।

दोनों शिकारी यह सुनकर चुप हो गये। फिर दोनों ने कुछ आपस में गिट-पिट बातें कीं। थे तो दोनों हिन्दुस्तानी पर उनकी भाषा देसी न थी। मिस्टर पी मँहगू को पास बुलाकर कहने लगे, "देखो, अगर तुम चलना चाहो तो ढाई तीन घंटे घुमा लाने का तुम्हें एक रुपया मिल जायगा।" यह कह, वे अपने मित्र की ओर देखने लगे। उनके मित्र की मुद्रा सम्मति सूचक थी। मँहगू नीचे भूमि की ओर देखता हुआ कुछ सोच रहा था। थोड़ी देर वह चुप-चाप

कुछ हिसाब बैठाता रहा। फिर एकाएक दृढ़ होकर बोला, "नहीं साहब, कहाँ ढाई रुपये, कहाँ एक! अच्छा आप की इच्छा हो तो जाइए दो रुपये दे दीजिए।" वह आशा भरी आँखों से दोनों शिकारियों की ओर देखने लगा। मिस्टर पी और उनके मित्र फिर कुछ मंत्रणा करने लगे। उनकी भाषा मँहगू समझ न सका, पर उसका सारांश मिस्टर पी के मित्र ने उसे बतलाया, कि अगर चलना हो तो हम लोग डेढ़ रुपये दे सकते हैं। मँहगू ने गंभीरता से सिर हिला दिया, कि नहीं यह नहीं हो सकता।

मित्र ने मिस्टर पी से कुछ कहा। मिस्टर पी ने क्षण भर कुछ सोच कर एकाएक मानो निश्चय पर पहुँच कर कहा, "देखो, हम चार आने और दे देंगे। अब आ गये हैं तो थोड़ा घूम ले, वरना डेढ़ रुपये भी बहुत ज़्यादा है। चलना हो तो चलो जल्दी। ढाई बज रहे हैं।" यह कहकर वे ऐसे तैयार हो गये, मानो अब रुकेंगे नहीं, चाहे नाव की ओर बढ़ें या सड़क की ओर। मँहगू अपनी नाव की ओर बढ़ा। मित्रों ने सोचा उसे तैयार करने गया है। ये लोग नई-नई सिगरेट जलाने लगे। सिगरेट जली। दोनों ने नाव की ओर आश्चर्य्य से देखा, मँहगू जाकर उस पर चुपचाप बैठ गया है!

मिस्टर पी ने झल्लाहट के आवेश में कहा, "अजीब आदमी हो तुम, डैम! अगर नहीं जाना है तो साफ़-साफ़ कहता क्यों नहीं?"

मँहगू ने लड़खड़ाते हुए लहजे में उत्तर दिया, "नहीं साहब, इतने में तो नहीं होगा। दो से कम में मेरा पेट नहीं भरेगा।" अब दोनों मित्र बिलकुल न रुके। दोनों आपस में कुछ बड़बड़ाते हुए लौट पड़े। देखते-देखते वे आँख से ओझल हो गये। मँहगू अपनी 'किलवारी'

मुझे उनकी 'ड्यूटी' बजाने से छुट्टी मिली। मैंने उन्हें अपना सारा 'रिसर्च-मेथड' (तरीक़ा) बतलाया। अच्छी तरह उस से निकले परिणाम समझाये। बोलीं वे कुछ नहीं। केवल उनका सिर हिलता रहा और; उनकी आँखें और हाथ चावल बीनने में लगे थे। पता नहीं उन्होंने सुना भी या नहीं। इसके बाद एक और घटना हुई। जाड़े के दिन थे। शायद उस दिन रविवार का दिन था और शायद उस दिन छुट्टी भी थी—शायद इसलिए कि मुझे प्रायः रविवार को भी दफ़्तर के कामों से छुट्टी नहीं मिलती। सरकारी और ग़ैरसरकारी के बीच-वाले महकमों में यह नई बात नहीं है। ख़ैर, तो उस रविवार को छुट्टी थी। भोजन करके मैं ऊपर की छत पर धूप खाने के इरादे से पहुँचा। देखा, तो पड़ोसिन अपनी छत पर लेटी बाल सुखा रही थीं—कदाचित् वे चारपाई पर लेटी-लेटी सो गई थीं। एक बार मेरी आँखों ने उन्हें देखा, फिर लज्जा से वे नीची हो गईं। मैं भागा हुआ नीचे पहुँचा। स्त्री ने इस घबराहट को देखकर समझा, मानो छत पर बन्दर बैठे हैं। लगी पूछने, "मेरी धोती पड़ी थी सूखने को। लेते नहीं आये?" मैंने तुरन्त कहा, "अजी! बन्दर नहीं हैं।" उसने पूछा, "फिर क्यों भाग खड़े हुए?" मैंने जाकर धीरे से उसके कान में सारी बातें कह दीं और उससे कहा कि जाकर उन्हें ज़रा सचेत करदे। बड़े कहने-सुनने पर श्रीमती जी राज़ी हुईं और उन्होंने छत पर जाकर शायद पड़ोसिन को जगा दिया। फिर क्या था, इसी बहाने दोनों का परिचय हो गया।

अब मेरी गृहिणी जी जब देखो तभी पड़ोसिन की राग अलापतीं—अजी बड़ी हँसमुख हैं, बड़ी मिलनसार, लजीली, भली-मानुस, उदार—सारांश यह कि सारे गुणों की खान अगर कहीं कोई स्त्री हो सकती है, तो

वह हमारी पड़ोसिन ही थीं। कहाँ तो श्रीमती जी को रात-दिन अपने कामों से फ़ुरसत नहीं मिलती थी और फिर भी आधा-पौना काम अधूरा ही पड़ा रहता था। कभी बटन नहीं टँके, कभी दो-एक कपड़े धोबी के यहाँ जाने से रह गये, कभी कत्था नहीं छना, कभी पान नहीं फेरे गये, ग़रज़ यह कि एक-न-एक काम रोज़ वक्त की कमी के कारण रह ही जाता—पर बात कुछ समझ में नहीं आती थी, कि अब कहाँ से उन्हें सारा काम करने को समय मिल जाता था और उस पर मज़ा यह कि जब देखो तब छत पर खड़ी पड़ोसिन से बातें कर रही हैं। दफ़्तर से आया नहीं कि पूछने पर मालूम हुआ कि छत पर हैं। बड़ी झल्लाहट आई। सोचा, पहुँचते ही नाश्ते के बारे में दो-चार सुनाऊँगा। पर जनाब, आते ही उन्हों ने नाश्ता जल्दी करने की प्रार्थना की और नाश्ता भी मिला तो गरम-गरम, बढ़िया। सारा ग़ुस्सा काफ़ूर हो गया।

धीरे-धीरे मैंने देखा, मेरे घर में कुछ-का-कुछ होने लगा। श्रीमती जी अब प्रसन्नचित्त रहने लगीं। घर भी साफ़-सुथरा रहने लगा, बच्चे भी मगन रहने लगे। यह सब क्यों और कैसे हो गया, समझने में नहीं आ रहा था। पहले सोचा, शायद मेरा भ्रम होगा, ग़ौर करने ही की बात है, वरना कोई ख़ास बात है नहीं। पर जैसे पल-पल का बीतना न मालूम होते हुए भी घंटे-दो-घंटे का फ़र्क़ तो छिपा नहीं रहता, उसी तरह कुछ दिनों में यह बात छिपी न रही कि मेरे घर में भी कुछ रौनक़ ज़रूर आ गई है, कोई परिवर्तन ज़रूर हुआ है, चाहे जहाँ से हो। आख़िर, सोचते-सोचते जब कुछ समझ में न आया तो मैंने अपने दिल का चोर अपनी स्त्री पर प्रकट किया। उसने ऐसा भाव व्यक्त किया मानो मैंने कोई विचित्र बात कही हो। बोली, "आप भी क्या आदमी हैं! इतना भी

नहीं समझ सके। क्या मुझे चार हाथ-पाँव हो गये हैं। यह सब बेचारी 'पड़ोसिन' की कृपा है। दोपहर भर यहीं रहती हैं। 'नहीं'—'नहीं' करने पर भी सारा काम-काज बटा लेती हैं। कभी बच्चों को नहला दिया, कभी मेरे कपड़े सिला दिये—कभी कुछ, कभी कुछ। बहुत कहती हूँ, "आप क्यों तकलीफ़ करती हैं।" कहने लगती हैं, 'बहन, मेरा तो बैठे-बैठे जी घबराया करता था। उस दिन संयोग था, बाबू जी ने तुम्हें मुझे जगाने को भेजा, नहीं, तो काहे को परिचय होता। काहे को मैं यह सब सुख की घड़ियाँ बिताती। जब से यहाँ आई तब से सारे दिन बैठी झख मारा करती थी। आख़िर करती क्या बैठे-बैठे? मेरे यहाँ था कौन? बाबू जी सदा दौरे पर रहते हैं। अपने को न कोई बाल न बच्चा' घर के काम-काज के लिए नौकरानी है ही। फिर मैं क्या करती? चुपचाप बैठी रहना या पड़े-पड़े सोना।' "

मैंने बीच ही में रोककर कहा, "क्यों जी तुम्हारी पड़ोसिन-बहन के कोई बच्चा नहीं है।" गृहिणी ने उत्तर दिया, "नहीं जी, इसी से तो वे बड़ी दुखी रहती हैं। मेरे बच्चों को तो ऐसा खेलाती हैं मानो अपने ही बच्चे हों।" इतने में बड़ी लड़की हाथ में गुड़िया लिए आ पहुँची। मुझे दिखाकर कहने लगी, "बाबूजी देखिए कैसी अच्छी गुड़िया है। पड़ोसिन चाची ने बना दी है। अभी मुझे और भी बनादेंगी।" देखते-देखते दूसरी लड़की, दोनों लड़के, सभी ने आकर मुझे घेर लिया और पड़ोसिन चाची की तारीफ़ में अपना-अपना राग अलापना शुरू किया। एक इस जल्दी में है कि पहले मैं उसकी सुनूँ, दूसरी चाहती थी कि पहले 'बाबू जी' मेरी सुनें। लगे सब आपस में झगड़ने। एक कहता, "हमारी चाची हैं।" दूसरा कहता, "नहीं हमारी हैं।" मैंने एक-एक कर सब की सुनी

और वे सब संतुष्ट होकर दौड़े चाची को ख़बर देने।

धीरे-धीरे पड़ोसिन और मेरी स्त्री की मित्रता और गाढ़ी होती गई। पहले वह मेरी अनुपस्थिति में आया करती थीं। अब कभी-कभी मेरे घर आने के बाद जातीं और घर रहने पर आती थीं। परदे का ख़याल तो अब भी था। स्त्रियों में मेल-जोल बढ़ा तो मरदों में भी आपस में एक-दूसरे से मिलने की इच्छा हुई। संयोग से एक दिन 'पड़ोसिन' के बाबू जी (पतिदेव) आ पहुँचे। शायद दो ही दिन के लिए दौरे से घर आये थे। मुझ से बड़े प्रेम से मिले, मानो पुरानी मुलाक़ात हो। आदमी बड़े अच्छे स्वभाव के। अभी मेरी उम्र के, खुशदिल और भोले भाले—जब तक रहे बराबर उठना-बैठना होता रहा। जब सुना कि मैं भी बिरादरी का आदमी हूँ तो एक दिन अपने साथ खाना खाने की दावत दी। पत्नी और पति दोनों ने बड़ी ख़ातिर की। हम दोनों निमंत्रित थे। दूसरे दिन वह दौरे पर चले गये, चलते समय बड़े प्रेम से मिले और कह गये, "भाई, ज़रा हमारे यहाँ का भी ख़्याल रखिएगा। मैं तो अब आप की वजह से निश्चिन्त हो रहा हूँ।" मैंने उत्तर दिया, "वाह आप भी क्या कहते हैं! इसके कहने की क्या ज़रूरत थी। मुझे ग़ैर न समझिए।" वे चले गये। उनके जाने के बाद मुझे ऐसा जान पड़ा मानो अपना कोई आत्मीय बिछुड़ गया हो।

अब हमारे दोनों घरों में भाई-चारे का संबन्ध स्थापित हो गया। अभी तक तो स्त्रियों के बीच का नाता था, अब पुरुषों के बीच का सम्बन्ध स्थापित हो गया। मेरे पड़ोसी हम-उम्र ही थे। यह फैसला भी मुश्किल था कि हम दोनों में, एक या आध घन्टे का ही सही; कौन किससे बड़ा है। हमारी स्त्री ने पड़ोसिन से बहन का नाता पहले ही

जोड़ लिया था। अतः अब मेरे या मेरे पड़ोसी के लिए कोई और मौक़ा न था। मेरी पड़ोसिन ने अपनी बहन—मेरी स्त्री के नाते मुझे 'जीजा जी' कहना आरंभ किया, और मैंने उनका नाम न लेकर 'पड़ोसिन' और उनके पतिदेव को 'भाई साहब'। मेरे पड़ोसी प्रायः बाहर रहते, अतः हमारी पड़ोसिन अक्सर मेरे ही यहाँ रहतीं। कभी-कभी मेरे ही यहाँ खाना भी खा लेतीं। अब उन्हें अधिक संकोच नहीं रह गया था। हमारे गृह-जीवन में अब वे भी अपना 'पार्ट प्ले' करने लगीं। यदि कभी मेरी स्त्री रूठ जाती, तो वे बच्चों को खड़ा कर मुझे उलहना देतीं और स्त्री को समझातीं। उनकी बात हम दोनों में कोई भी, न टालता। इस प्रकार बच्चों के विषय में, घर के प्रबन्ध के बारे में, कहीं आना है, कहीं जाना है—इत्यादि सभी बातों में हम दोनों पड़ोसिन से राय लेते। उनकी सम्मति के बिना हमें कुछ करना-धरना अच्छा न लगता था। पड़ोसिन भी धीरे-धीरे हमारे घरेलू मामलों में दख़ल देने में संकोच करना छोड़ने लगीं। धीरे-धीरे बात यहाँ तक पहुँची कि यदि कभी भूल से उनकी उपेक्षा हो जाती, तो वे उसे अपना अपमान समझतीं और हम दोनों को भी दुःख के साथ अपना अपराध स्वीकार करके उन्हें मनाने में मज़ा आता था।

अब हम लोगों के दिन बड़े मज़े से कटते थे। अभी तक हमारे छोटे समाज में केवल दो ही प्राणी थे। एक ठहरा दफ़्तर का बाबू, दूसरी ठहरी गृहिणी, जिसे रात-दिन अपने घर के काम-काज की सिर-खपन से फ़ुरसत नहीं। दिन भर दोनों, दो लोक में रहते। संध्या समय अपनी-अपनी थकान, अपनी-अपनी दुःख-कहानी सोचते-सोचते सो जाते थे। प्रातः काल हुआ तो फिर वही नित्य का नियम। पर अब बात कुछ

और ही थी। पड़ोसिन के मिल जाने से गृहिणी गृहकार्य्य की निर्जीव मशीन न रहकर, एक सामाजिक सजीव प्राणी बन गई। दिन भर उससे हँसी-विनोद करने, उसके दुःख-सुख सुनने के लिए, उसे एक साथी मिल गया था। वह मानो पुतली से आदमी बन गई। मुझे भी घर आकर दो-चार ऐसी बातें सुनने का अवसर मिलने लगा, जिससे कभी हँसी आती, कभी विनोद करने को जी चाहता, कभी कुछ परिहास के शब्द निकल पड़ते तो उसका उत्तर पाकर हृदय में गुदगुदी होने लगती—जैसे, हमारे जीवन में नई ज्योति जग गई हो, नई स्फूर्ति आ गई हो।

सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख, यह संसार का सदा का अटल नियम चला आया है। हमें सुख और आनंद में देखकर मानो काल-चक्र बैठा नहीं रह सकता। उस में उलट-फेर करने ही में वह अपनी बहादुरी समझता है। हमारा उसमें क्या बस है? उस दिन हम लोग बैठे गपशप कर रहे थे। पास ही ज़रा ओट में छोटे बच्चे को लिए पड़ोसिन भी बैठी थीं। बड़े बच्चे सभी खेल रहे थे। हम लोग उन्हीं का मख़ौल कर रहे थे। कभी मैं हँस पड़ता, कभी मेरी स्त्री किसी बात पर हँस पड़ती, कभी पड़ोसिन की खिलखिलाहट हमारे कानों तक पहुँचती। किसी बात पर हम सब देर तक क़हक़हा लगाते रहे। बच्चे भी ताली पीटकर उछल रहे थे। सहसा ऐसा जान पड़ा मानो कोई बाहर कुंडी खटखटा रहा हो। रात के क़रीब नौ के रहे होंगे।

जाकर देखा तो डाकख़ाने का चपरासी तार लिए खड़ा था। पूछा, "किसके नाम?" उसने कहा, "मिस्टर जे० पी० श्रीवास्तव।" मैंने अपने नाम का तार ले लिया। धीरे से बैठक के लैंप के पास जाकर खोला तो समाचार पढ़कर एक दम हाँथ-पैर फूल गये, आँखों के आगे

अँधेरा छा गया, पसीने से तर हो गया। अपने को सँभालकर उठा तो महिलाएँ मेरी प्रतीक्षा करती हुई मिलीं। पहुँचते ही गृहिणी ने पूछा—"क्या था ?" मैंने अपने को सँभाल कर कहा, "कुछ नहीं, चिट्ठी थी।"

"चिट्ठी ! इतनी रात को कौन-सी डाक आती है ?" पड़ोसिन ने कुछ व्यंग से कहा। मैंने उनका परिहास सुना, पर उस बार उसपर हँसी न आकर रुलाई आगई। मैं अपने को रोक न सका। मैंने चिल्लाकर रोते हुए कहा, "हाय, बड़ा ग़ज़ब हो गया।" स्त्रियों ने समझा, मुझे कुछ हो गया। मेरी पत्नी तथा पड़ोसिन बच्चों को छोड़कर मेरे पास आ खड़ी हुईं। पड़ोसिन के मुख से घूँघट हट गया था। उनकी भोली-भाली सूरत देखकर मैंने सिसकियाँ लेते हुए कहा, "हाय पड़ोसिन ! तुम तो लुट गईं।" पड़ोसिन चिन्ता और दुःख के मारे बदहवास होकर मुझ से लिपट गईं। घबराहट में काँपते हुए स्वर में पूछने लगीं, "कहिए, कहिए, बात क्या है ?" मैं किस मुँह से कहता ? पर कहना ही पड़ा "देवी, चपरासी ने तार दिया है कि भाई साहब कालरा से दो घन्टे में ...।" मेरी बात समाप्त न होने पाई थी कि अर्थ पहले ही स्पष्ट हो गया। दोनों बहनें लिपटकर रोने लगीं। मैं दीवार से टिका हुआ हिचकियाँ ले रहा था। बच्चे घबराये हुए यह अद्भुत दृश्य देख रहे थे। उनके जीवन में शायद इस प्रकार की यह पहली ही घटना थी।

❀ ❀ ❀ ❀

पड़ोसिन अब विधवा थीं और विधवा हुए इन्हें साल भर हो रहा है। ज्यों-ज्यों वैधव्य की आयु बढ़ रही थी, उनके प्रति हम लोगों की सहानुभूति और दुःख का अनुभव भी बढ़ता जाता था। हमारे दांपत्य-जीवन में मानो तटस्थता आ रही थी। अब मेरी स्त्री मेरे प्रति अधिक

उदासीन रहती, मैं भी हँसी-दिल्लगी के कोई शब्द मुँह से निकालने में संकोच करता। सदा आँखों में वैधव्य की भीषण मूर्ति नाचा करती। पड़ोसिन के दुख-दर्द का स्मरण कर हम सदा उसका परिहार करने की चेष्टा करते। स्त्री अब भड़कीले वस्त्र न पहनती थी। तीज-त्योहार पर मैं केवल लकीर पीट लेता। यह बात न थी कि पड़ोसिन को इसकी अनुभूति न होती हो, और यह भी नहीं कि हमें उनकी ईर्षा की आशंका हो। पड़ोसिन विचित्र जीव थीं—या यों कहिए, बड़ी उदार, सुशील, नम्र और हँसमुख स्वभाव की स्त्री थीं। उन्होंने कभी हमें यह अनुभव करने का मौक़ा नहीं दिया कि वे हमारे आमोद-प्रमोद या सौभाग्य से दुखित होती हों, अथवा वे अपने को इसमें विचलित पातीं हों। वरन् सच बात तो यह थी, कि उन्हें सदा इसकी चिन्ता रहती थी कि उनके कारण कहीं हम—दंपती को कष्ट का अनुभव न हो। पर आख़िर हमारा भी तो कुछ धर्म था।

जब से पड़ोसिन विधवा हुईं, हमारे घर उनका आना-जाना और भी अधिक होने लगा। घर अगर गईं तो केवल पूजा-पाठ, भोजन-शयन भर के लिए। पतिदेव उनके गुज़ारे भर को काफ़ी धन छोड़ गये थे। घर पर कुछ संपत्ति भी थी। उन सब की यही मालकिन थीं। अब उन्हें करना ही क्या था? किसी का लेना न किसी का देना—पर नहीं मेरे घर ऐसी रहती थीं मानो अपना ही घर हो, बच्चों की रात-दिन ऐसी देख-भाल करतीं, मानो अपने ही उदर के बच्चे हों। जितनी हम दोनों को अपने घर की चिन्ता नहीं रहती, उतनी—बल्कि उस से कहीं अधिक हमारी पड़ोसिन को थी। हमारी 'गृहिणी' ने मानों अब सारा घर उनके सिपुर्द कर रखा था। नौकरों का हिसाब करना, धोबी को कपड़े डालना, भण्डारे

का प्रबन्ध, बच्चों के कपड़े-लत्ते, नहलाना-धुलाना, उनकी शिक्षा-दीक्षा, लोगों के यहाँ भेजना-भेजाना—सारे-के-सारे कामों का 'चार्ज' हमारी पड़ोसिन को मिल गया था। धर्मपत्नी जी मानो इनके आसरे थीं, उनकी आज्ञा पालन करने को सदा तैयार रहतीं। पड़ोसिन को हमने काम की आज्ञा देते कभी नहीं देखा। बस, "हाँ! हाँ!" करते रहिए, वे किसी को अपने काम में हाथ न बँटाने देंगी। अब धर्मपत्नी जी को भी अभ्यास हो गया था। बिना पड़ोसिन के उनका एक मिनट काम न चल सकता था।

पड़ोसिन मुझ से परदा करती थीं; पर जब नित्य का आना-जाना, रहता था तो पड़ोसिन का परदा कहाँ तक ठहरता! धीरे-धीरे परदा तो रहा नहीं, पर परदे की मर्यादा सदा ज्यों-की-त्यों बनी रही। अब पड़ोसिन कभी-कभी अकेले में भी मुझे खाने के लिए बुला लेती थीं। मेरी स्त्री यदि किसी काम में व्यस्त रही अथवा लड़के कहीं बाहर खेलते रहते तो पड़ोसिन स्वयं भी आकर, बाज़ार से कुछ लाना हुआ तो कह गईं, भोजन तैयार हुआ तो समाचार दे गईं, दफ़्तर को देर हो रही हो तो समय बतला गईं। मैं उनकी बातें सुन लेता था, पर उन से सीधे कुछ कहने में संकोच तथा लेहाज़ करता था।

एक दिन की बात है—शायद मुझे रविवार की छुट्टी मिली थी। धर्मपत्नी जी, मुझे स्मरण आता है, किसी संबन्धी के यहाँ मिलने गई थीं। बड़े-बड़े बच्चे उनके साथ गये थे। केवल छोटा बच्चा पड़ोसिन के सिपुर्द किया गया था। चलते समय मुझे आदेश मिला था, कि पड़ोसिन बहन भोजन बना देंगी, आप जाकर भोजन कर लीजिएगा, मैं शायद देर में लौटूँ, खाना तो मुझे वहीं खाना है।" मैं कमरे में बैठा दफ़्तर के किसी मामले पर ग़ौर कर रहा था। मैंने सिर हिलाकर स्वीकृति

दे दी थी। जब घड़ी में दस बजे, दिन ऊपर चढ़ आया, तो होश हुआ, "यह क्या कर डाला। घर पर कोई नहीं, केवल पड़ोसिन! मैं घर में कैसे पाँव धरूँगा! आख़िर, नहाना है, धोना है। बार-बार का आना जाना—यह तो बड़ी उलझन है।" इतने में घर में से आवाज़ आई, "जीजा जी, उठिए! नहाइए, धोइए रसोई तैयार है।" मैंने पहचाना ये हमारी पड़ोसिन के शब्द थे।

मैं आँखें नीचे किये, मुँह में सिगरेट दबाये पाख़ाने में घुसा, फिर ग़ुसलख़ाने में। ओह! धोती आदि तो भूल ही गया। अब बड़ी दिक़्क़त थी। किससे पूछूँ? खैर, शुक्र ख़ुदा! सारी चीज़ें ग़ुसुलख़ाने में रखी थीं। धोती, तौलिया, साबुन, तेल—सभी चीज़ें यथास्थान, क़ायदे से रखी थीं। नहा-धोकर फिर भागा हुआ अपने कमरे में जा पहुँचा। बैठने भी नहीं पाया था कि आवाज़ आई, "आप वहाँ क्यों जा बैठे? आइए, भोजन कीजिए, बारह बजने को आये हैं।" हवलदार का कमांड सुनकर जैसे सिपाही चुपचाप 'राइट', 'लेफ्ट' 'मार्च' करता है, मैं भी उसी भाँति दाहने-बायें घूमता-फिरता चौके में जा खड़ा हुआ। आसन बिछाते हुए पड़ोसिन ने थाली खिसका दी, मैं चुप-चाप बैठकर खाने लगा। आँख नीचे थीं, कान मानो बहरे हो गये थे।

पड़ोसिन ने बात छेड़ी, "खाना अच्छा नहीं बना होगा। नमक तो ज़्यादा नहीं पड़ गया? बहन जी ने ठीक अंदाज़ नहीं बतलाया।" मैं चुपचाप हाथ और मुँह का सम्बन्ध स्थापित कर रहा था। उन्होंने फिर ज़रा ऊँचे शब्दों में कहा, "कुछ अचार-वचार दूँ? आप तो जाने क्यों बोलते ही नहीं। आज कहाँ की लज्जा ने आ घेरा है। जीजा जी! आप तो, जान पड़ता है, ससुराल आये हैं।" उनके शब्दों का आघात, मेरी

लज्जा को तो बिलकुल निर्मूल न सर सका, पर उनके शब्दों की उच्चारण-शैली में अपनापे के भाव ने मेरे हृदय को सराबोर कर दिया। क्षण भर में मैं दुःख, सहानुभूति, विवशता, आदि न जाने किन-किन भावों में डूबने-उतराने लगा। इसी बीच पालने पर सोया हुआ बच्चा रो पड़ा। मैं एकाएक उठकर उसे उठाने दौड़ा। उधर पड़ोसिन भी चौके से निकलकर पालने के पास पहुँचीं। मैंने बच्चे को बायें हाथ से उठा लिया था। पड़ोसिन यह देख कहने लगीं, "सुला दीजिए, मैं लिये लेती हूँ। आप चलकर भोजन समाप्त कीजिए।" मैंने बच्चा गोद में देना चाहा, पर वे पीछे हट गईं। पालने में उसे सुला मैं चौके में पहुँचा। पड़ोसिन रसोई में बच्चे को गोद में लिये बैठी थीं। अब उनसे बात-चीत करने को मेरा मन चाह रहा था। मैंने एक रोटी माँगी। उन्हों ने रोटी देकर तरकारी के लिए पूछा। मैंने साग माँगा, तो उन्हों ने चटनी भी लेने को कहा। धीरे-धीरे बातों का सिलसिला चला। पहले सीधी-साधी 'फारमल', फिर एकाएक मैंने कहा, "आप यदि मेरे यहाँ आकर रहें तो कोई हर्ज है? आख़िर व्यर्थ मकान का किराया, झंझट, आप क्यों उठाती हैं? आपके रहने से हम लोगों को भी बड़ी ख़ुशी होगी।" वे बोलीं, "जीजा जी आप कहते तो ठीक हैं, पर—क्या करूँ।" उनके यकायक चुप हो जाने का आशय मैं न समझ सका। मैंने पूछा, "कहिए साफ़-साफ़ कहिए! आप हम लोगों से संकोच करती हैं। वाह! हम तो आपको अपना समझते हैं।" मैंने उत्सुकता से उनकी ओर देखा। उनकी आँखें एक बार मिलीं, फिर नीची हो गईं। लगीं वे कहने, "संकोच काहे का? और वह भी आप लोगों से! हमारे है ही और कौन? अपना समझिए या पराया जो कुछ हैं आप ही लोग हैं।" उनकी आँखों से टप्-टप् दो बूँद आँसू

चौके की सूखी फ़र्श पर गिरकर चमकने लगे। मुझे अपने कथन पर दुःख हुआ। मैंने प्रसंग परिवर्तन के विचार से दूसरी बात छेड़ी। बोला, "ज़रा चावल दे दीजिएगा।"

उन्हों ने चावल परोस दिया। पेट भर गया था, पर फिर भी खाना ही पड़ा। पानी पीते-पीते मैंने फिर पूछा, "तो आपने क्या निश्चय किया है।" उत्तर मिला, "जैसा आप कहिए।" मैं हाथ मुँह धोकर बैठक में जा बैठा। पड़ोसिन पान दे गईं। फिर मैं कुछ न बोला। उस दिन से मैं अपनी पत्नी का हृदय टटोलने लगा। आख़िर उसकी क्या राय है? धीरे-धीरे मैंने उसके मन में यह बात बैठा दी, कि पड़ोसिन को अपने ही घर में बुला लेना अच्छा होगा। वह अब स्वयं पड़ोसिन से अपने यहाँ आने का आग्रह करने लगी। पड़ोसिन आख़िर आ ही गईं। अब मानो वे मेरे घर की प्राणी हो गईं—इतना ही नहीं, हमारे घरेलू जीवन में उनका प्रधान 'पार्ट' रहता था। इस जीवन से वह भी संतुष्ट थीं—हमारी स्त्री भी। बच्चे तो मानो पड़ोसिन चाची को पाकर आनंद की निधि पा गये हों। पर सुःख-दुःख का चक्र हमारे लिए न ठहरा। वह उलट-पलट करता ही रहा।

बरसात के दिन थे। चारों ओर काली घटाएँ छाई हुई थीं। अँधेरी रात; हाथ पसारे सूझता नहीं। ऊपर से आधी रात का समय। बच्चे सो रहे थे। स्त्री को बच्चा होनेवाला था। कई दिन से तबीयत ख़राब थी। दिन अभी पूरे न हुए थे, इससे कोई विशेष प्रबन्ध न हुआ था। एकाएक सोती-सोती वह चौंक पड़ी। प्रसव पीड़ा ने आ दबाया। घर में चिल्ल-पों मच गया। पड़ोसिन श्रीमती को सँभाल रही थीं; मैं बच्चों को। नौकरानी 'छोटे' को गोद में लिये बैठी थी। ईश्वर-ईश्वर कर

के रात बीती। पर दुख की घड़ी जो आई, वह सदा बनी ही रही।

❀ ❀ ❀ ❀

स्त्री को मरे अब साल बीत रहे हैं। इस उम्र में वियोग का तीखापन यद्यपि उतना नहीं था, पर बच्चों के भार के सामने उसकी अनुपस्थिति अवश्य बहुत खलती। पड़ोसिन के कारण वह भी अधिक न खली। घर, वह पहले से सँभालती थीं; अब भलीभाँति सँभालने लगीं। धीरे-धीरे बच्चे माँ को भूल गये और मैं अपनी धर्मपत्नी को। पर पड़ोसिन 'भाई साहब' को भूल सकीं वा नहीं—यह विचार मुझे असह्य पीड़ा पहुँचाता था। उनका वैधव्य मेरे दुख का कारण रहता था। उनके प्रति मेरी सहानुभूति निस्सहाय होकर तड़प उठती थी। अपने वश की कोई बात उठा न रखता। उनकी मरज़ी के विरुद्ध कुछ करना—इसकी कल्पना मात्र मेरे लिए 'विदेशी' वस्तु थी। हाँ, उनकी बात न टलने पावे—इसका मुझे सदा ध्यान रहता था। उनकी ग़रज़ मेरी ग़रज़, उनका अपमान मेरी मृत्यु, उनका अनादर मेरी यातना के समान था।

कई वर्ष बीत गये। एक दिन की बात है। शायद मैं सबेरे का 'चक्कर' लगाकर लौटा था। भीतर पहुँचा तो पड़ोसिन बच्चे को गोद में लिये चौके में खड़ी थीं। मैंने पुकारा, "क्यों बे मुन्ने! मिठाई लेगा!" बच्चा गोद में आने के लिए लपका। मैंने ले लिया और खड़ा होकर खेलाने लगा। पड़ोसिन की मधुर-ध्वनि मेरे कानों में पड़ी। मानो वे कह रही हों, "जीजा जी, एक बात आपसे कहनी है।" मुड़कर देखा तो सच-मुच वह कुछ कहना चाहती थीं।

मैंने कहा, "कहिए क्या आज्ञा है।" बोलीं, बैठिए तो बतलाऊँ।" मैंने समझा बच्चे के लिए कुछ कपड़े-लत्ते लाने होंगे। पर, पड़ोसिन

के कहने की मुद्रा कुछ और ही दीख पड़ी। सिर नीचा कर बोलीं, "आप अपना विवाह क्यों नहीं कर लेते?" मैं भौंचक्का सा हो गया। यह बे-सिर-पैर की बातें कहाँ से आ पड़ीं। पर वे गंभीर थीं। उन्होंने कहा, "आख़िर, आप सोचते क्या हैं? अभी आपकी उम्र ही क्या है?" मेरे मुँह से अनायास निकल पड़ा, "और आपकी उम्र कितनी है?" यह कहकर मैंने मुसकरा कर उनकी ओर देखा। वे घूँघट खींचकर फ़र्श पर बैठ गईं। उनके चेहरे पर लज्जा की लालिमा घूँघट में न छिप सकी। मैंने दाँतों तले जीभ दबाई और घबराहट में बैठक में जा पहुँचा। अपने इस उत्तर से मुझे हार्दिक ग्लानि हो रही थी, बहुत देर तक बैठक में अपनी इस भूल पर चुप-चाप खिन्नचित्त बैठा रहा। बच्चा दिक़ करने लगा। पर भीतर में पड़ोसिन के सामने जाने में लज्जा आ रही थी।

बच्चे की रोने की आवाज़ सुन पड़ोसिन ने पुकारा, "जीजा जी! मुन्ने को भीतर दे जाइए। मैं अब ख़ाली हूँ। लाइए उसके कपड़े बदल दूँ।" मैंने सुना। वे ऐसा कह रही थीं मानो कहीं कुछ हुआ ही नहीं। मुन्ना को लेकर भीतर पहुँचा। पड़ोसिन ने हाथ बढ़ाकर सहज भाव से उसे गोद में लेलिया और लगीं पूछने, "आख़िर आज छुट्टी है क्या? दस बज रहे हैं और आपने अभी तक कुल्ली नहीं की।" मैंने जल्दी-जल्दी नहाया-धोया। चटपट खा-पीकर आफ़िस की ओर दौड़ा। घबराहट और जल्दी में मेरी सारी लज्जा और ग्लानि जाने कहाँ खो गई।

इसके पश्चात् फिर कभी ऐसी ग़लती न हुई। पड़ोसिन तो मानो इसे एक दम भूल ही गईं। हाँ—मैं अवश्य इसे सदा बार-बार भुलाने का व्यर्थ प्रयत्न करता रहता हूँ। पड़ोसिन और हमारे बीच परदे की एक थोथा, किन्तु दृढ़ मर्यादा की दीवार खड़ी थी। इस झीने ओट को पारकर,

हमारी आत्माएँ स्वस्थ भाव से एक दूसरे से मिलती जुलतीं, परस्पर दुःख-सुख का परिवर्तन कर, अपूर्व आनंद का अनुभव करती थीं। मर्यादा के इस सुदृढ़ प्राचीर को पारकर केवल आत्मा ही के समान सूक्ष्म पदार्थ का आवागमन हो सकता था।

पड़ोसिन के वैधव्य की नीरसता और भीषणता अब अवश्य कुछ कम हुई सी जान पड़ती थी। कुछ दिन पूर्व वैधव्य के नवयौवन काल में उनकी मुखश्री, तुषाराच्छादित उस उत्तरीय सागर की भाँति थी, जिसपर न लोल लहरें कल्लोल करती हैं, न सुन्दर मछलियाँ खेलती हैं—चारों ओर, एक दम प्रशांत, निश्चल निर्जीव और नीरस ! पर क्या हिमाच्छादित प्रशांत सागर के आवरण पृष्ठ के भीतर नीला समुद्र लहरें नहीं लेता रहता ? कौन कह सकता है, कि विधवा की इस संज्ञाहीन, विकार-रहित, नीरस, निरीह, उदासीन मुद्रा के भीतर उसके कौन-कौन से कोमल भाव टकराकर, निर्जीव होकर, नित्य विलीन होते रहते हैं ? वैधव्य के ऊषा-काल में जब कभी मेरी दृष्टि भूलकर पड़ोसिन के मुख पर पड़ जाती थी, तो उस पर आसन जमाकर बैठी हुई उस पगली, वैरागिन, अनाथा सुषमा की भावरहित, खोई हुई दृष्टि मेरे हृदय में पहुँच कर मुझे बौखल बना देती थी। उसकी स्मृति-मात्र मुझे अकथनीय यंत्रणा का अनुभव कराती थी। मैं उसकी भीषणता और करुणता पर काँप उठता था। पर अब—अब ऐसा दृश्य देखने का दुर्भाग्य बहुत कम—अथवा बिलकुल नहीं होता।

पड़ोसिन विधवा हैं। वैधव्य सामाजिक शब्दावली में दुर्भाग्य, दीनता तथा अन्य कटुभावों का मूर्ताकार हो तो हो, पर उस से हमारी पड़ोसिन को कोई सरोकार न था। वैधव्य का लांछन उनके लिए वैराग्ययुक्त कर्म-

निष्ठा की साधना थी। उनके चेहरे से जो शांति, कर्त्तव्य-ज्ञान, निस्पृहता, आत्मत्याग तथा आनन्द टपकता था, उसका अनुभव मिसों, श्रीमतियों, गृहिणियों, धर्मपत्नियों तथा मिसेज़गणों के चंचल, शिक्षित, व्यस्त, कर्त्तव्य-युक्त तथा क्लब-शो-रूम के लिए पाउडर-पुते चेहरों से, कदाचित् ही हो सकता है।

हम और हमारी पड़ोसिन दोनों इस समय जीवन की अर्ध शताब्दी के निकट पहुँच रहे हैं। हमारे बालों में अब कभी-कभी भूले से कोई काला निकल आता है। बच्चों में एक आध की शादी भी हो गई। लड़की अपने घर गई। बड़ा लड़का अपने परिवार सहित अपनी नौकरी पर है। घर पर हम दोनों रहते हैं। दो-एक छोटे बच्चे अभी और देख-भाल को बचे हैं। उनसे छुट्टी पाकर हम आनन्द से राम-भजन करते हैं। हमारी सुख-शांति हमारे समाज के कुछ भीरु, अकर्मण्य, जर्जरित हिन्दू-धर्म के संरक्षकों को ज़रूर खटकती है—यह हम दोनों से छिपी नहीं। शीघ्र बुझनेवाले दीपक की धुँधली शिखा की भाँति वे किसी कोने में बैठ, हमारे विषय में काना-फूसी भी करते होंगे। पर हमें इसकी शिकायत नहीं। हमें तो अपनी पड़ोसिन के दम की ख़ैर मनाने से फ़ुरसत नहीं—और हमारी पड़ोसिन दिन-रात केवल बच्चों के पीछे पागल रहना जानती हैं।